यूजीसी नेट नवीनतम पाठ्यक्रम २०१९ के अनुरूप

सभी निबंध

अनुक्रम

भारतेंदु के निबंध

संग्रहकर्ता और संपादक

केसरीनारायण शुक्ल

एम्० ए०, डी० लिट्०

(रीडर लखनऊ विश्वविद्यालय)

प्रकाशक

सरस्वती-मंदिर,

जतनबर, बनारस

प्रकाशक
सरस्वती मंदिर
जतनबर, बनारस

प्रथम संस्करण : १०००
मूल्य : ५)
संवत् : २००८

मुद्रक—
श्री भोला यन्त्रालय
८।७७, खजुरी, बनारस कैण्ट

वक्तव्य

एम० ए० (फाइनल) के विद्यार्थियो को 'विशेष कवि' के रूप मे भारतेंदु हरिश्चंद्र का अध्ययन कराते हुए मुझे हरिचंद्र सबधी सामग्री के अभाव का अनुभव हुआ, यो तो उनके काव्य और नाटको का सग्रह प्रकाशित हो चुका है फिर भी उनके साहित्यिक कर्तृत्व और व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण अंग छिपा ही रहा। निबंधकार के रूप मे उन्होने हिदी भाषा और साहित्य की जो सेवा की, जिस लगन के साथ उन्होने जन जागर्ति और चेतना को (प्रबुद्ध कर देश को उन्नति के पथ पर) अग्रसर किया, युगधर्म का जो चित्र उपस्थित किया, और साथ ही अपने अंतस् की जो झलक दिखाई उससे पाठक और विद्यार्थी अपरिचित ही रहे। इस अनभिज्ञता का मुख्य कारण यह था कि ये निबध आज से सौ वर्ष पहले पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुए थे, और वे पत्र-पत्रिकाएँ अधिकतर नष्ट हो चुकी है और जो बची है वे दुष्प्राप्य है। फिर भी इस सामग्री का आकलन आवश्यक है क्योकि इसके बिना न तो भारतेदु युग का मूल्यांकन ही ठीक हो सकता है और न परवर्ती साहित्य के विकास की गतिविधि को ही ठीक ठीक समझा जा सकता है। प्रस्तुत सग्रह के मूल मे यही भावना है।

प्रस्तुत संग्रह मे भारतेदु के सभी निबध नहीं मिलेगे। विद्यार्थियों की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर इनका चुनाव किया गया है, और इसी लिए इसमे कुछ सामग्री ऐसी भी मिलेगी जिसे हम निबंध नहीं कह सकते। फिर भी उनसे युग की शैली, युगीन साहित्य के कुछ विशेष रूप एवं प्रकार का परिचय और युगनिर्माता के व्यक्तित्व की रोचक झलक मिलेगी। इस संग्रह का उद्देश्य केवल इतना ही है कि विद्यार्थियो को भारतेदु का सर्वांगीण परिचय प्राप्त हो, उनमे उस युग के प्रति कुछ रुचि जगे और वे आगे चलकर खोज के काम मे प्रवृत्त हो।

इस संग्रह की कथा मेरी कृतज्ञताज्ञापन की कथा भी है जिसके कहने मे मुझे अत्यंत हर्ष होता है। यदि मुझे कुछ मित्रों और साहित्यप्रेमियो की सहायता न प्राप्त होती तो यह संग्रह प्रस्तुत न हो सकता।

श्री ब्रजरत्नदास जी जिस उत्साह और उदारता से सदा सहायता करते रहे है उसका सम्यक् कथन नहीं हो सकता। भारतेदु-युग की प्राचीन पत्र-पत्रिकाओ को मेरे अध्ययन के लिए प्रस्तुत कर उन्होने मुझे अनुगृहीत किया है।

साहित्यप्रेमी भारतेंदु हरिश्चंद्र के दौहित्र का ऐसा होना स्वाभाविक ही है। अल्प समय मे विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखकर उन्होने बड़ी कृपा दिखलाई। •

इस समय मै पटना यूनवर्सिटी के भूतपूर्व वाइस चासलर श्रीशार्ङ्गधर सिह जी को कदापि नही भूल सकता। जब मैं भारतेंदु के 'भक्तसर्वस्व' को न पाकर निराश हो चुका था उस समय मुझे आपके ही सौजन्य से आप खड्ग विलास प्रेस की अकेली प्रति देखने को मिल सकी।

पटना के प्रसिद्ध साहित्यप्रेमी श्रीछविनाथ पाडेय ने मुझे हरिश्चद्र संबंधी बहुमूल्य सामग्री दिलाकर कृतार्थ किया।

गया कालेज के हिंदी प्रोफेसर श्री व्रटेकृष्ण एम० ए० ने अपने संग्रह से भारतेंदु की रचनाएँ देकर मेरे इस कार्य मे हाथ बँटाया।

अपने विभाग के भारतेंदुवर्ग के विद्यार्थियो का उल्लेख आवश्यक है। सचमुच यह उन्हीं के लिए है और उन्हीं की प्रेरणा का परिणाम है।

इस पुस्तक का प्रकाशन अपने परम मित्र श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्र के सतत परिश्रम से ही संभव हो सका है। इस सबध मे फिर भी वे मुझे कुछ अधिक नहीं कहने देते, और मुझे मौन धारण करना पड़ता है।

लखनऊ
१०-१-१९५२

केसरीनारायण शुक्ल

अनुक्रम

———

दिल्ली दरबार दर्पण।

सब राजाओं की मुलाकातो का हाल अलग अलग लिखना आवश्यक नही, क्योंकि सब के साथ वही मामूली बातें हुईं। सब बडे बड़े शासनाधिकारी राजाओं को एक एक रेशमी झडा और सोने का तगमा मिला। झंडे अत्यन्त सुन्दर थे। पीतल के चमकीले मोटे मोटे डडो पर राजराजेश्वरी का एक एक मुकुट बना था और एक एक पटरी लगी थी जिस पर झडा पाने वाले राजा का नाम लिखा था, और फरहरे पर जो डडे से लटकता था स्पष्ट रीति पर उन के शस्त्र आदि के चिन्ह बने हुए थे। झंडा और तगमा देने के समय श्रीयुत वाइसराय ने हरएक राजा से ये वाक्य कहे...

"मैं श्रीमती महारानी की तरफ से यह झडा खास आप के लिये देता हू, जो उन के हिन्दुस्तान की राजराजेश्वरी की पदवी लेने का यादगार रहेगा। श्रीमती को भरोसा है कि जब कभी यह झडा खुलेगा आप को उसे देखते ही केवल इसी बात का ध्यान न होगा कि इगलिस्तान के राज्य के साथ आप के खैरखाह राजसी घराने का कैसा दृढ संबध है बरन यह भी कि सरकार की यह बड़ी भारी इच्छा है कि आप के कुल को प्रतापी, प्रारब्धी और अचल देखे। मैं श्रीमती महारानी हिन्दुस्तान की राजराजेश्वरी की आज्ञानुसार आप को यह तगमा भी पहनाता हू। ईश्वर करे आप इसे बहुत दिन तक पहिने और आप के पीछे यह आप के कुल मे बहुत दिन तक रह कर उस शुभ दिन को याद दिलावे जो इस पर छपा है।"

शेष राजाओ को उन के पद के अनुसार सोने या चादी के केवल तगमे ही मिले। किलात के खा को भी झडा नहीं मिला, पर उन्हे एक हाथी, जिस पर ४००० की लागत का हौदा था, जड़ाऊ गहने, घड़ी, कारचोबी कपड़े, कमखाब के थान वग़ैरह सब मिलाकर २५,००० की चीजे तुहफे मे मिलीं। यह बात किसी दूसरे के लिये नहीं हुई थी। इस के सिवाय जो सरदार उन के साथ आए थे उन्हें भी किश्तियों मे लगा कर दस हजार रुपये की चीजे दी गईं। प्रायः लोगो को इस बात के जानने का उत्साह होगा कि खा का रूप और वस्त्र कैसा था। निस्सन्देह जो कपड़ा खा पहने थे वह उनके साथियो से बहुत अच्छा था तौ भी उन की या उन के किसी साथी की शोभा उन मुगलों से बढ़ कर न थी जो बाजार में मेवा लिये घूमा करते है। हा, कुछ फर्क था तो इतना था कि लम्बी गभिन दाढ़ी के कारण खा साहिब का चिहरा बड़ा भयानक था। इन्हे झंडा न मिलने कारण यह समझना चाहिये कि यह बिल्कुल स्वतन्त्र है। इन्हे

आने और जाने के समय श्रीयुत वाइसराय गलीचे के किनारे तक पहुंचा गए थे, पर बैठने के लिये इन्हे भी वाइसराय के चबूतरे के नीचे वही कुर्सी मिली थी जो और राजाओ को। खा साहिब के मिज़ाज मे रूखापन बहुत है। एक प्रतिष्ठित बंगाली इनके डेरे पर मुलाकात के लिये गए थे। खा ने पूछा, क्यों आए हो बाबू साहिब ने कहा, आपकी मुलाकात को। इस पर खा बोले कि अच्छा, आप हम को देख चुके और हम आप को, अब जाइये।

बहुत से छोटे छोटे राजाओ की बोल चाल का ढग भी, जिस समय वे वाइसराय से मिलने आए थे, संक्षेप के साथ लिखने के योग्य है। कोई तो दूर ही से हाथ जोड़े आए, और दो एक ऐसे थे कि जब एडिकाग के बदन झुकाकर इशारा करने पर भी उन्हो ने सलाम न किया तो एडिकाग ने पीठ पकड़ कर उन्हे धीरे से झुका दिया। कोई बैठ कर उठना जानते ही न थे, यहां तक कि एडिकाग को "उठो" कहना पड़ता था। कोई झडा, तगमा, सलामी और खिताब पाने पर भी एक शब्द धन्यवाद का नहीं बोल सके और कोई बिचारे इन मे से दो ही एक पदार्थ पा कर ऐसे प्रसन्न हुए कि श्रीयुत वाइसराय पर अपनी जान और माल निछावर करने को तैयार थे। सब से बढ़कर बुद्धिमान हमे एक महात्मा देख पड़े जिन से वाइसराय ने कहा कि आप का नगर तो तीर्थ गिना जाता है। पर हम आशा करते है कि आप इस समय दिल्ली को भी तीर्थ ही के समान पाते है। इस के जबाब मे वह बेधड़क बोल उठे कि यह जगह तो सब तीर्थों से बढ़ कर है, जहा आप हमारे "खुदा" मौजूद है। नौबाब लुहारु की भी अंगरेजी मे बात चीत सुन कर ऐसे बहुत कम लोग होगे जिन्हे हसी न आई हो। नौबाब साहिब बोलते तो बड़े बेधड़क धड़ाके से थे, पर उसी के साथ कायदे और मुहावरे के भी खूब हाथ पाव तोड़ते थे। कितने वाक्य ऐसे थे जिनके कुछ अर्थ ही नहीं हो सकते, पर नौबाब साहिब को अपनी अंगरेजी का ऐसा कुछ विश्वास था कि अपने मुह से केवल अपने ही को नहीं वरन अपने दोनो लड़को को भी अंगरेजी, अरबी, ज्योतिष, गणित आदि ईश्वर जाने कितनी विद्याओ का पंडित बखान गए। नौबाब साहिब ने कहा कि हम ने और रईसो की तरह अपनी उमर खेल कूद मे नहीं गवाई वरन लड़कपन ही से विद्या के उपार्जन मे चित्त लगाया और पूरे पडित और कवि हुए। इस के सिवाय नौबाब साहिब ने बहुत से राजभक्ति के वाक्य भी कहे। वाइसराय ने उत्तर दिया कि हम आप की अगरेजी विद्या पर इतना मुबारक बाद नहीं देते जितना अंगरेजो के समान आप का चित्र होने के लिये। फिर नौबाब साहिब ने कहा कि मै ने इस भारी अवसर के वर्णन मे अरबी और फारसी का एक पद्य ग्रन्थ बनाया है जिसे मैं चाहता हू कि किसी समय श्रीयुत को सुनाऊं। श्रीयुत ने जबाब दिया कि मुझे भी कविता का बड़ा अनुराग

है और मैं आपसा एक भाई कवि (Brother-Poet) देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, और आप की कविता सुनने के लिये कोई अवकाश का समय अवश्य निकालूंगा।

२६ तारीख को सब के अन्त में महारानी तंजौर वाइसराय से मुलाकात को आईं। ये तास का सब वस्त्र पहने थीं और मुंह पर भी तास का नकाब पड़ा हुआ था। इसके सिवाय उन के हाथ पांव दस्ताने और मोजे से ऐसे ढके थे कि सब के जी में उन्हें देखने की इच्छा ही रह गई। महारानी के साथ में उन के पति राजा सखाराम साहिब और दो लड़कों के सिवाय उन की अनुवादक मिसेस फर्थ भी थीं। महारानी ने पहले आकर वाइसराय से हाथ मिलाया और अपनी कुर्सी पर बैठ गईं। श्रीयुत वाइसराय ने उन के दिल्ली आने पर अपनी प्रसन्नता प्रगट की और पूछा कि आप को इतनी भारी यात्रा में अधिक कष्ट तो नहीं हुआ। महारानी अपनी भाषा की बोलचाल में बेगम भूपाल की तरह चतुर न थीं, इसीलिये जियादा बातचीत मिसेस फर्थ से हुई, जिन्हें श्रीयुत ने प्रसन्न हो कर "मनभावनी अनुवादक" कहा। वाइसराय की किसी बात के उत्तर में एक बार महारानी के मुंह से "यस" निकल गया, जिस पर श्रीयुत ने बड़ा हर्ष प्रगट किया कि महारानी अंगरेजी भी बोल सकती हैं, पर अनुवादक मेम साहिब ने कहा कि वे अंगरेजी में दो चार शब्द से अधिक नहीं जानतीं।

इस वर्णन के अन्त में यह लिखना अवश्य है कि श्रीयुत वाइसराय लोगों से इतनी मनोहर रीति पर बात चीत करते थे जिस से सब मगन हो जाते थे और ऐसा समझते थे कि वाइसराय ने हमारा सब से बढ़ कर आदर सत्कार किया। भेंट होने के समय श्रीयुत ने हर एक से कहा कि आप से दोस्ती कर के हम अत्यन्त प्रसन्न हुए, और तगमा पहिनाने के समय भी बड़े स्नेह से उन की पीठ पर हाथ रख कर बात की।

१ जनवरी को दरबार का महोत्सव हुआ।

यह दरबार, जो हिन्दुस्तान के इतिहास में सदा प्रसिद्ध रहेगा, एक बड़े भारी मैदान में नगर से पांच मील पर हुआ था। बीच में श्रीयुत वाइसराय का षटकोण चबूतरा था, जिसकी गुम्बदनुमा छत पर लाल कपड़ा चढ़ा और सुनहला रुपहला तथा शीशे का काम बना था। कंगुरे के ऊपर कलसे की जगह श्रीमती राज-राजेश्वरी का सुनहला मुकुट लगा था। इस चबूतरे पर श्रीयुत अपने राजसिंहासन में सुशोभित हुए थे। उन के बगल में एक कुर्सी पर लेडी साहिब बैठी थीं और ठीक पीछे खवास लोग हाथों में चंवर लिये और श्रीयुत के ऊपर कारचोबी छत्र लगाए खड़े थे। वाइसराय के सिंहासन के दोनों तरफ दो पेज (दामन बरदार) जिन

मे एक श्रीयुत महाराज जम्बू का अत्यन्त सुन्दर सब से छोटा राजकुमार, और दूसरा कर्नल बर्न का पुत्र था, खड़े थे और उनके दहने बाएं और पीछे मुसाहिब और सेक्रेटरी लोग अपने अपने स्थानो पर खड़े थे। वाइसराय के चबूतरे के ठीक सामने कुछ दूर पर उस से नीचा एक अर्द्ध चद्राकार चबूतरा था, जिस पर शासनाधिकारी राजा लोग और उनके मुसाहिब, मदरास और बबई के गवरनर, पजाब, बगाल और पश्चिमोत्तर देश के लेफटिनेन्ट गवरनर, और हिन्दुस्तान के कमान्डरइनचीफ़ अपने २ अधिकारियों समेत सुशोभित थे। इस चबूतरे की छत बहुत सुन्दर नीले रंग के साटन की थी, जिस के आगे लहरियादार छज्जा बहुत सजीला लगा था। लहरिये के बीच २ मे सुनहले काम के चाद तारे बने थे। राजाओ की कुर्सिया भी नीली साटन से मढी थी और हर एक के सामने वे झन्डे गड़े थे जो उन्हे वाइसराय ने दिये थे, और पीछे अधिकारियो की कुर्सिया लगी थी। जिन पर भी नीली साटन चढी थी। हर एक राजा के साथ एक २ पोलिटिकल अफसर भी था। इनके सिवाय गवर्नमेन्ट के भारी २ अधिकारी भी यहीं बैठे थे। राजा लोग अपने २ प्रान्तो के अनुसार बैठाए गए थे, जिस से ऊपर नीचे बैठने का बखेडा बिल्कुल निकल गया था। सब मिला कर ६३ शासनधिकारी राजाओं को इस चबूतरे पर जगह मिली थी, जिन के नाम नीचे लिखे है:—

महाराज अजयगढ़, बडोदा, बिजावर, भरतपुर, चरखारी, दतिया, ग्वालियर, इन्दौर, जयपुर, जम्बू, जोधपुर, करौली, किशुनगढ़, पन्ना, मैसूर, रीवा, उर्छा, महाराना उदयपुर, महाराव राजा अलवर, बूदी, महाराज राना झलावर, राना धौलपुर, राजा बिलासपुर, बमरा, बिरोंदा, चम्बा, छतरपुर, देवास, धार, फरीदकोट, जींद, खरोंद, कूचबिहार, मन्डी, नाभा नाहन, राजपीपला, रतलाम, समथर, सुकेत, टिहरी, राबा जिगनो टोरी, नौवाब टोंक, पटौदी, मलेरकोटला, लुहारू, जूनागढ़, जौरा, दुजाना, बहावलपुर, जागीरदार अलीपुरा, बेगम भूपाल, निजाम हैदराबाद, सरदार कलसिया, ठाकुर साहिब भावनगर, मुर्वी, पिपलोदा, जागीरदार पालदेव, मीर खैरपुर, महन्त कादका, नन्दगाव, और जाम नवानगर।

वाइसराय के सिंहासन के पीछे, परन्तु राजसी चबूतरे की अपेक्षा उस से अधिक पास, धनुषखण्ड के आकार की श्रेणिया चबूतरो की ओर बनी थीं जो दस भागो मे बाट दी गई थी। इन पर आगे की तरफ थोड़ी सी कुर्सिया और पीछे सीढ़ीनुमा बेन्चे लगी थीं, जिन पर नीला कपड़ा मढ़ा था। यहां ऐसे राजाओ को जिन्हे शासन का अधिकार नहीं है और दूसरे सरदारो, रईसों, समाचारपत्रो के सम्पादको और यूरोपियन तथा हिन्दुस्तानी अधिकारियों को, जो गवर्न्मेन्ट के नेवते मे आये थे या जिन्हे तमासा देखने के लिये टिकट मिले थे, बैठने की जगह दी गई

थी। ये ३००० के अनुमान होंगे। किलात के खां, गोआ के गवरनर जेनरल, विदेशी राजदूत, बाहरी राज्यों के प्रतिनिधि समाज और अन्य देश सम्बन्ध कान्सल लोगों की कुर्सियां भी श्रीयुत वाइसराय के पीछे सरदारों और रईसों की चौकियो के आगे लगी थीं।

दरबार की जगह दक्खिन तरफ १५,००० से जियादा सरकारी फौज हथियार बांधे लैस खडी थी, और उत्तर तरफ़ राजा लोगो की सजीली पलटने भाति २ की वरदी पहने और चित्र विचित्र शस्त्र धारण किये परा बाधे खड़ी थीं। इन सब की शोभा देखने से काम रखती थी। इस के सिवाय राजा लोगो के हाथियो के परे जिन पर सुनहली अमारिया कसी थीं। और कारचोबी झूले पडी थीं, तोपो की कतारे, सवारो की नगी तलवारो और भालो की चमक, फरहरो का उडना, और दो लाख के अनुमान तमासा देखने वालो की भीड़ जो मैदान मैं डटी थी ऐसा समा दिखलाती थी जिसे देख जो जहा था वहीं हक्का बक्का हो खडा रह जाता था। वाइसराय के सिहासन के दोनो तरफ हाइलैन्डर लोगो का गार्ड आव आनर और बाजेवाले थे, और शासनाधिकारी राजाओ के चबूतरे पर जाने के जो रास्ते बाहर की तरफ़ थे उन के दोनो ओर भी गार्ड आव आनर खड़े थे। पौने बारह बजे तक सब दरबारी लोग अपनी अपनी जगहो पर आ गए थे। ठीक बारह बजे श्रीयुत वाइसराय की सवारी पहुची और धनुष्खण्ड आकार के चबूतरो की श्रेणियो के पास एक छोटे से खेमे के दरवाजे पर ठहरी। सवारी पहुंचते ही बिल्कुल फौज ने शस्त्रो से सलामी उतारी पर तोपे नहीं छोड़ी गईं। खेमे मे श्रीयुत ने जा कर स्टार आव इण्डिया के परम प्रतिष्ठित पद के ग्राड मास्टर का वस्त्र धारण किया। यहा से श्रीयुत राजसी छत्र के तले अपने राजसिहासन की ओर बढ़े। श्री लेडी लिटन श्रीयुत के साथ थीं और दोनो दामनबरदार बालक, जिनका हाल ऊपर लिखा गया है, पीछे दो तरफ से दामन उठाए हुए थे। श्रीयुत के आगे आगे उनके स्टाफ के अधिकारी लोग थे। श्रीयुत के चलते ही बन्दीजन (हेरल्ड लोगो) ने अपनी तुरहिया एक साथ मधुर रीति पर बजाई और फौजी बाजे से ग्राड मार्च बजने लगा। जब श्रीयुत राजसिंहासन वाले मनोहर चबूतरे पर चढ़ने लगे तो ग्राडमार्च का बाजा बन्द हो गया और नेशनल ऐन्थेम अर्थात् (गौड सेव दि क्वीन—ईश्वर महारानी को चिरंजीवी रक्खे) का बाजा बजने लगा और गार्ड्स आव आनर ने प्रतिष्ठा के लिये अपने शस्त्र झुका दिये। ज्यो ही श्रीयुत राजसिहासन पर सुशोभित हुए बाजे बन्द हो गए और सब राजा महाराजा, जो वाइसराय के आने के समय खड़े हो गए थे, बैठ गए। इस के पीछे श्रीयुत ने मुख्यबन्दी (चीफ़ हेरल्ड) को आज्ञा की कि श्रीमती महारानी के राजराजेश्वरी की पदवी लेने के विषय मे अगरेज़ी मे राजाज्ञापत्र पढ़ो। यह आज्ञा होते ही बन्दीजनो ने, जो दो पाती मे

राज्यसिंहासन के चबूतरे के नीचे खड़े थे, तुरही बजाई और उसके बन्द होने पर मुख्य बन्दी ने नीचे की सीढ़ी पर खड़े होकर बड़े ऊचे स्वर से राजाज्ञापत्र पढ़ा, जिसका उल्था यह है...

महारानी विक्टोरिया।

ऐसी अवस्था मे कि हाल मे पार्लियामेंट की जो सभा हुई उन मे एक ऐक्ट पास हुआ है जिस के द्वारा परम कृपालु महारानी को यह अधिकार मिला है कि यूनाइटेड किंगडम और उस के आधीन देशो की राजसम्बन्धी पदवियो और प्रशस्तियो मे श्रीमती जो कुछ चाहे बढ़ा ले और इस ऐक्ट मे यह भी वर्णन है कि ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैण्ड के एक मे मिल जाने के लिये जो नियम बने थे उन के अनुसार भी यह अधिकार मिला था कि यूनाइटेड किंगडम और उस के आधीन देशो की राजसम्बन्धी पदवी और प्रशस्ति इस सयोग के पीछे वही होगी जो श्रीमती ऐसे राजाज्ञापत्र के द्वारा प्रकाश करेगी, जिस पर राज की मुहर छपी रहे। और इस ऐक्ट मे यह भी वर्णन है कि ऊपर लिखे हुए नियम और उस राजाज्ञापत्र के अनुसार जो १ जनवरी सन् १८०१ को राजसी मुहर होने के पीछे प्रकाश किया गया, हम ने यह पदवी ली "विक्टोरिया ईश्वर की कृपा से ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैण्ड के सयुक्त राज की महारानी स्वधर्म रक्षिणी", और इस ऐक्ट मे यह भी वर्णन है कि उस नियम के अनुसार जो हिन्दुस्तान के उत्तम शासन के हेतु बनाया गया था हिन्दुस्तान के राज का अधिकार, जो उस समय तक हमारी ओर से ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सपुर्द था, अब हमारे निज अधिकार मे आ गया और हमारे नाम से उसका शासन होगा। इस नये अधिकार की हम कोई विशेष पदवी लें, और इन सब वर्णनो के अनन्तर इस ऐक्ट मे यह नियम सिद्ध किया गया है कि ऊपर लिखी हुई बात के स्मरण निमित्त कि हम ने अपने किये हुए राजाज्ञापत्र के द्वारा हिन्दुस्तान के शासन का अधिकार अपने हाथ मे ले लिया हम को यह योग्यता होगी कि यूनाइटेड किंगडम और उस के आधीन देशो की राजसम्बन्धी पदवियो और प्रशस्तियो मे जो कुछ उचित समझे बढा ले। इसलिये अब हम अपने प्रिवी-काउन्सिल की सम्मति से योग्य समझ कर यह प्रचलित और प्रकाशित करते है कि आगे को, जहां सुगमता के साथ हो सके, सब अवसरो मे और सम्पूर्ण राजपत्रो पर जिन मे हमारी पदविया और प्रशस्तिया लिखी जाती है, सिवाय सनद, कमिशन, अधिकारदायक पत्र, दानपत्र, आज्ञापत्र, नियोगपत्र, और इसी प्रकार के दूसरे पत्रो के जिन का प्रचार यूनाइटेड किंगडम के बाहर नहीं है, यूनाइटेड किंगडम और उस के आधीन देशो की राजसम्बन्धी पदवियो मे नीचे लिखा हुआ वाक्य मिला दिया जाय, अर्थात् लैटिन भाषा मे "इन्डिई एम्परेट्रिक्स" [हिन्दुस्तान की राज-

राजेश्वरी] और अगरेजी भाषा मे "एम्प्रेस आव इन्डिया" । और हमारी यह इच्छा और प्रसन्नता है कि उन राजसम्बन्धी पत्रों में जिन का वर्णन ऊपर हुआ है यह नई पदवी न लिखी जाय । और हमारी यह भी इच्छा और प्रसन्नता है कि सोने, चादी और ताबे के सब सिक्के, आज कल यूनाइटेड किंगडम मे प्रचलित है और नीतिविरुद्ध नहीं गिने जाते और इसी प्रकार तथा आकार के दूसरे सिक्के जो हमारी आज्ञा से अब छापे जायगे, हमारी नई पदवी लेने से भी नीतिविरुद्ध न समझे जायगे, और जो सिक्के यूनाईटेड किंगडम के आधीन देशो मे छापे जायगे और जिन का वर्णन राजाज्ञापत्र मे उन जगहो के नियमित और प्रचलित द्रव्य करके किया गया और जिन पर हमारी सम्पूर्ण पदविया या प्रशस्तिया उन का कोई भाग रहे, और वे सिक्के जो राजाज्ञापत्र के अनुसार अब छापे और चलाए जायेगे इस नई पदवी के बिना भी उस देश के नियमित और प्रचलित द्रव्य समझे जायगे, जब तक कि इस विषय मे हमारी कोई दूसरी प्रसन्नता न प्रगट की जायगी ।

• हमारी विन्डसर की कचहरी से २८ अपरेल को एक हजार आठ सौ छिहत्तर के सन् मे हमारे राज के उनतालीसवे बरस मे प्रसिद्ध किया गया ।

ईश्वर महरानी को चिर जीवी रक्खे ।

जब चीफ़ हेरल्ड राजाज्ञापत्र को अंग्रेजी मे पढ़ चुका तो हेरल्ड लोगो ने फिर तुरही बजाई । इस के पीछे फारेन सेक्रेटरी ने उर्दू मे तर्जुमा पढ़ा । इस के समाप्त होते ही बादशाही झडा खड़ा किया गया और तोपखाने से, जो दरबार के मैदान मे मौजूद था, १०१ तोपो की सलामी हुई । चौतीस २ सलामी होने के बाद बन्दूको की बाढ़े दगीं और जब १०१ सलामिया तोपो से हो चुकीं तब फिर बाढ छूटी और नैशनल ऐन्थेम का बाजा बजने लगा ।

इस के अनन्तर श्रीयुत वाइसराय समाज को ऐड्रेस करने के अभिप्राय से खड़े हुए । श्रीयुत वाइसराय के खड़े होते ही सामने के चबूतरे पर जितने बड़े २ राजा लोग और गवरनर आदि अधिकारी थे खड़े हो गए पर श्रीयुत ने बडे ही आदर के साथ दोनो हाथो से हिन्दुस्तानी रीति पर कई बार सलाम करके सब से बैठ जाने का इशारा किया । यह काम श्रीयुत का, जिस से हम लोगो की छाती दूनी हो गई, पायोनियर सरीखे अगरेजी समाचार पत्रो के सम्पादको को बहुत बुरा लगा, जिन की समझ मे वाइसराय का हिन्दुस्तानी तरह पर सलाम करना बड़े हेठाई और लज्जा की बात थी । खैर, यह तो इन अगरेजी अखबारवालो की मामूली बातें हैं । श्रीयुत वाइसराय ने जो उत्तम ऐड्रेस पढ़ा उसका तर्जमा हम नीचे लिखते हैं :—

सन् १८५८ ईसवी की १ नवम्बर को श्रीमती महारानी की ओर से एक इश्तिहार जारी हुआ था जिस मे हिन्दुस्तान के रईसो और प्रजा को श्रीमती की कृपा का विश्वास कराया गया था जिस को उस दिन से आज तक वे लोग राज-सम्बन्धी बातो मे बड़ा अनमोल प्रमाण समझते है।

वे प्रतिज्ञा एक ऐसी महारानी की ओर से हुई थी जिन्हो ने आज तक अपनी बात को कभी नहीं तोडा, इस लिये हमे अपने मुह से फिर उन का निश्चय कराना व्यर्थ है। १८ बरस की लगातार उन्नति ही उन को सत्य करती है और यह भारी समागम भी उन के पूरे उतरने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस राज के रईस और प्रजा जो अपनी २ परम्परा की प्रतिष्ठा निर्विघ्न भोगते रहे और जिन की अपने उचित लाभो की उन्नति के यत्न मे सदा रक्षा होती रही उन के वास्ते सरकार की पिछले समय की उदारता और न्याय आगे के लिये पक्की जमानत हो गई है।

हम लोग इस समय श्रीमती महारानी के राजराजेश्वरी की पदवी लेने का समाचार प्रसिद्ध करने के लिये इकट्ठे हुए है, और यहा महारानी के प्रतिनिधि होने की योग्यता से मुझे अवश्य है कि श्रीमती के उस कृपायुक्त अभिप्राय को सब पर प्रगट करू जिस के कारण श्रीमती ने अपने परम्परा की पदवी और प्रशस्ति मे एक पद और बढाया।

पृथ्वी पर श्रीमती महारानी के अधिकार मे जितने देश है जिन का विस्तार भूगोल के सातवे भाग से कम नहीं है और जिन मे तीस करोड़ आदमी बसते है। उन मे से इस और प्राचीन राज के समान श्रीमती किसी दूसरे देश पर कृपा-दृष्टि नहीं रखतीं।

सब जगह और सदा इगलिस्तान के बादशाहो की सेवा मे प्रवीण और परि-श्रमी सेवक रहते आए है, परन्तु उन से बढ़ कर कोई पुरुषार्थी नहीं हुए, जिन की बुद्धि और वीरता से हिन्दुस्तान का राज सरकार के हाथ लगे और बराबर अधिकार मे बना रहा। इस कठिन काम मे जिस मे श्रीमती की अगरेजी और देशी प्रजा दोनो ने मिल कर भली भाति परिश्रम किया है श्रीमती के बड़े २ स्नेही और सहायक राजाओ ने भी शुभचिंतकता के साथ सहायता दी है जिन की सेना ने लड़ाई की मिहनत और जीत मे श्रीमती की सेना का साथ दिया है, बुद्धिपूर्वक सत्यशीलता के कारण मेल के लाभ बने रहे और फैलते गए है, और जिन का आज यहा वर्त्तमान होना, जो कि श्रीमती के राजराजेश्वरी की पदवी लेने का शुभ दिन है, इस बात का प्रमाण है कि वे श्रीमती के अधिकार की उत्तमता मे विश्वास रखते है और उन के राज मे एका बने रहने मे अपना भला समझते हैं।

श्रीमती महारानी इस राज को जिसे उन के पुरुषो ने प्राप्त किया और श्रीमती ने दृढ़ किया एक बड़ा भारी पैतृक धन समझती है जो रक्षा करने और

अपने वश के लिये सपूर्ण छोड़ने के योग्य है, और उस पर अधिकार रखने से अपने ऊपर यह कर्त्तव्य जानती है कि अपने बड़े अधिकार को इस देश की प्रजा की भलाई के लिये यहा के रईसो के हक्को पर पूरा २ ध्यान रख कर काम मे लावे। इस लिये श्रीमती का यह राजसी अभिप्राय है कि अपनी पदवियो पर एक और ऐसी पदवी बढ़ावे जो आगे सदा को हिन्दुस्तान के सब रईसो और प्रजा के लिये इस बात का चिन्ह हो कि श्रीमती के और उन के लाभ एक है और महारानी की ओर राजभक्ति और शुभचितकता रखनी उन पर उचित है।

वे राजसी घरानो की श्रेणिया जिन का अधिकार बदल देने और देश की उन्नति करने के लिये ईश्वर ने अगरेजी राज को यहा जमाया, प्राय अच्छे और बड़े बादशाहो से खाली न थीं परन्तु उन के उत्तराधिकारियों के राज्यप्रबन्ध से उन के राज्य के देशो मे मेल न बना रह सका। सदा आपस मे झगड़ा होता रहा और अधेर मचा रहा। निबल लोग बली लोगो के शिकार थे और बलवान् अपने मद के। इस प्रकार आपस की काट मार और भीतरी झगडो के कारण जड़ से हिल कर और निर्जीव होकर तैमूरलग का भारी घराना अन्त को मिट्टी मे मिल गया, और उस के नाश होने का कारण यह था कि उस से पश्चिम के देशो की कुछ उन्नति न हो सकी।

आजकल ऐसी राजनीति के कारण जिस से सब जाति और सब धर्म के लोगो की समान रक्षा होती है श्रीमती की हर एक प्रजा अपना समय निर्विघ्न सुख से काट सकती है। सरकार के समभाव के कारण हर आदमी बिना किसी रोक टोक के अपने धर्म के नियमो और रीतो को बरत सकता है। राजराजेश्वरी का अधिकार लेने से श्रीमती का अभिप्राय किसी को मिटाने या दबाने का नहीं है बरन रक्षा करने और अच्छी तरह राह बतलाने का। सारे देश की शीघ्र उन्नति और उस के सब प्रान्तो की दिन पर दिन वृद्धि होने से अगरेजी राज के फल सब जगह प्रत्यक्ष देख पड़ते है।

हे अगरेजी राज के कार्यकर्त्ता और सच्चे अधिकारी लोग,—वह आप ही लोगो के लगातार परिश्रम का गुण है कि ऐसे २ फल प्राप्त है, और सब के पहले आप ही लोगो पर मै इस समय श्रीमती की ओर से उन की कृतज्ञता और विश्वास को प्रगट करता हू। आप लोगो ने इस भारी राज की भलाई के लिये उन प्रतिष्ठित लोगो से जो आप के पहले इन कामो पर नियत थे किसी प्रकार कम कष्ट नहीं उठाया है और आप लोग बराबर ऐसे साहस, परिश्रम और सचाई के साथ अपने तन, मन को अर्पण करके काम करते रहे जिस से बढ़ कर कोई दृष्टात इतिहासों मे न मिलेगा।

कीर्त्ति के द्वार सब के लिये नहीं खुले हैं परन्तु भलाई करने का अवसर सब किसी को जो उसकी खोज रखता हो मिल सकता है। यह बात प्रायः कोई गवर्नमेन्ट नही कर सकती कि अपने नौकरो के पदो को जल्द २ बढ़ाती जाय, परन्तु मुझे विश्वास है कि अंगरेजी सरकार की नौकरी मे 'कर्त्तव्य का ध्यान' और 'स्वामी की सेवा मे तन, मन को अर्पण कर देना' ये दोनो बातें 'निज प्रतिष्ठा' और 'लाभ' की अपेक्षा सदा बढ़ कर समझी जायगी। यह बात सदा से होती आई है और होती रहेगी कि इस देश के प्रबन्ध के बहुत से भारी २ और लाभदायक काम प्रायः बडे २ प्रतिष्ठित अधिकारियो ने नहीं किये है बरन जिले के उन अफसरों ने जिन की धैर्यपूर्वक चतुराई और साहस पर सम्पूर्ण प्रबन्ध का अच्छा उतरना सब प्रकार आधीन है।

श्रीमती की ओर से राजकाज सम्बन्धी और सेना सम्बन्धी अधिकारियो के विषय मे जितनी गुणग्राहकता और प्रशंसा प्रगट करू थोड़ी है क्योकि ये तमाम हिन्दुस्तान मे ऐसे सूक्ष्म और कठिन कामो को अत्यन्त उत्तम रीति पर करते रहे हैं और जिन से बढ़कर सूक्ष्म और कठिन काम सरकार अधिक से अधिक विश्वास-पात्र मनुष्य को नहीं सौंप सकती। हे राजकाज सम्बन्धी और सेना सम्बन्धी अधिकारियो,—जो कमसिनी मे इतने भारी जिम्मे के कामो पर मुकर्रर होकर बड़े परिश्रम चाहनेवाले नियमो पर तन, मन से चलते हो और जो निज पौरुष से उन जातियो के बीच राज्य प्रबन्ध के कठिन काम को करते हो जिन की भाषा धर्म और रीतें आप लोगो से भिन्न है—मै ईश्वर से प्रार्थना करता हू कि अपने २ कठिन कामों को दृढ़ परन्तु कोमल रीत पर करने के समय आप को इस बात का भरोसा रह कि जिस समय आप लोग अपने जाति की बड़ी कीर्त्ति को थामे हुए है और अपने धर्म के दयाशील आज्ञाओ को मानते है उसी के साथ आप इस देश के सब जाति और धर्म के लोगो पर उत्तम प्रबन्ध के अनमोल लाभो को फैलाते है।

उस पच्छिम की सभ्यता के नियमो को बुद्धिमानी के साथ फैलाने के लिये जिस से इस भारी राज का धन बराबर बढ़ता गया हिन्दुस्तान पर केवल सरकारी अधिकारियो ही का एहसान नहीं है, बरन यदि मै इस अवसर पर श्रीमती की उस यूरोपियन प्रजा को जो हिन्दुस्तान मे रहती है पर सरकारी नौकर नही है, इस बात का विश्वास कराऊ कि श्रीमती उन लोगो के केवल उस राजभक्ति ही की गुण-ग्राहकता नहीं करती जो वे लोग उन के और उन के सिंहासन के साथ रखते है किन्तु उन लाभो को भी जानती और मानती है जो उन लोगो के परिश्रम से हिन्दुस्तान को प्राप्त होते है तो मै अपनी पूज्य स्वामिनी के विचारो को अच्छी तरह न वर्णन करने का दोषी ठहरूगा।

इस अभिप्राय से कि श्रीमती को अपने राज के इस उत्तम भाग की प्रजा को सरकार की सेवा या निज की योग्यता के लिये गुणग्राहकता देखाने का विशेष अवसर मिले श्रीमती ने कृपापूर्वक केवल स्टार आफ इन्डिया के परम प्रतिष्ठित पद वालो और आर्डर आफ बृटिश इन्डिया के अधिकारियो की सख्या ही मे थोडी सी बढती नही की है किन्तु इसी हेतु एक बिलकुल नया पद और नियत किया है जो "आर्डर आफ दि इन्डियन एम्पायर" कहलावेगा।

हे हिन्दुस्तान की सेना के अगरेजी और देशी अफ्सर और सिपाहियो,—आप लोगो ने जो भारी भारी काम बहादुरी के साथ लड भिड कर सब अवसरो पर किये और इस प्रकार श्रीमती की सेना की युद्धकीर्त्ति को थामे रहे उसका श्रीमती अभिमान के साथ स्मरण करती है। श्रीमती इस बात पर भरोसा रख कर कि आगे को भी सब अवसरो पर आप लोग उसी तरह मिल जुल कर अपने भारी कर्तव्य को सच्चाई के साथ पूरा करेंगे, अपने हिन्दुस्तानी राज में मेल और अमन चैन बनाए रखने के विश्वास का काम आप लोगो ही को सपुर्द करती है।

हे वालन्टियर सिपाहियो,—आप लोगो के राजभक्ति पूर्ण और सफल यत्न जो इस विषय मे हुए है कि यदि प्रयोजन पडे तो आप सरकार की नियत सेना के साथ मिल कर सहायता करें इस शुभ अवसर पर हृदय से धन्यवाद पाने के योग्य है।

हे इस देश के सरदार और रईस लोग,—जिन की राजभक्ति इस राज के बल को पुष्ट करनेवाली है और जिन की उन्नति इस के प्रताप का कारण है, श्रीमती महारानी आप को यह विश्वास करके धन्यवाद देती है कि यदि इस राज के लाभो में कोई विघ्न डाले या उन्हे किसी तरह का भय हो तो आप लोग उस की रक्षा के लिये तैयार हो जायगे। मैं श्रीमती की ओर से उन के नाम से दिल्ली आने के लिये आप लोगों का जी से स्वागत करता हू, और इस बडे अवसर पर आप लोगो के इकट्ठे होने को इगलिस्तान के राजसिहासन की ओर आप लोगो की उस राजभक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण गिनता हू और श्रीमान् प्रिन्स आफ वेल्स के इस देश मे आने के समय आप लोगो ने दृढ रीत पर प्रगट की थी। श्रीमती महारानी आप के स्वार्थ को अपना स्वार्थ समझती है, और अगरेजी राज के साथ उस के कर देने वाले और स्नेही राजा लोगो का जो शुभ सयोग से सम्बन्ध है उस के विश्वास को दृढ करने और उस के मेल जोल को अचल करने ही के अभिप्राय से श्रीमती ने अनुग्रह करके वह राजसी पदवी ली है जिसे आज हम लोग प्रसिद्ध करते है।

हे हिन्दुस्तान की राजराजेश्वरी के देसी प्रजा लोग,—इस राज की वर्त्तमान दशा और उस के नित्य के लाभ के लिये अवश्य है कि उस के प्रबन्ध को जाचने और सुधारने का मुख्य अधिकार ऐसे अगरेजी अफसरो को सपुर्द किया जाय

जिन्हों ने राज काज के उन तत्वो को भली भाति सीखा है जिन का बरताव राज-राजेश्वरी के अधिकार स्थिर रहने के लिये अवश्य है । इन्हीं राजनीति जानने वाले लोगो के उत्तम प्रयत्नो से हिन्दुस्तान सभ्यता मे दिन २ बढता जाता है और यही उस के राजकाज सम्बन्धी महत्व का हेतु और नित्य बढनेवाली शक्ति का गुप्त कारण है, और इन्हीं लोगो के द्वारा पच्छिम देश का शिल्प, सभ्यता और विज्ञान, (जिन के कारण आज दिन यूरोप लड़ाई और मेल दोनो मे सब से बढ-चढ कर है) बहुत दिनो तक पूरब के देशो मे वहा वालो के उपकार के लिये प्रचलित रहेगा ।

परन्तु हे हिन्दुस्तानी लोग ! आप चाहे जिस जाति या मत के हो यह निश्चय रखिये कि आप इस देश के प्रबन्ध मे योग्यता के अनुसार अगरेजो के साथ भली भाति काम पाने के योग्य है, और ऐसा होना पूरा न्याय भी है, और इगलिस्तान तथा हिन्दुस्तान के बडे राजनीति जानने वाले लोग और महारानी की राजसी पार्लमेन्ट व्यवस्थापको ने बार बार इस बात को स्वीकार भी किया है । गवर्नमेन्ट आव इण्डिया ने भी इस बात को अपने सम्मान और राजनीति के सब अभिप्रायो के लिये अनुकूल होने के कारण माना है । इसलिये गवर्नमेन्ट आव इंडिया इन बरसो मे हिंदुस्तानियो की कारगुजारी के ढग मे, मुख्यकर बडे बड़े अधिकारियो के काम मे पूरी उन्नति देख कर सतोष प्रगट करती है ।

इस बड़े राज्य का प्रबन्ध जिन लोगो के हाथ मे सौंपा गया है उन मे केवल बुद्धि ही के प्रबल होने की आवश्यकता नहीं है वरन उत्तम आचरण और सामाजिक योग्यता की भी वैसी ही आवश्यकता है । इस लिये जो लोग कुल, पद, और परम्परा के अधिकार के कारण आप लोगो मे स्वाभाविक ही उत्तम है उन्हे अपने को और सतान की केवल उस शिक्षा के द्वारा योग्य करना है जिस से कि वे श्रीमती महारानी अपनी राजराजेश्वरी की गवर्नमेन्ट की राजनीति के तत्वो को समझे और काम मे ला सके और इस रीत से उन पदो के योग्य हो जिन के द्वार उनके लिये खुले है ।

राजभक्ति, धर्म, अपक्षपात, सत्य और साहस देश सम्बन्धी मुख्य धर्म है उन का सहज रीत पर बरताव करना आप लोगो के लिये बहुत आवश्यक है, और तब श्रीमती की गवर्नमेन्ट राज के प्रबन्ध मे आप लोगो की सहायता बड़े आनन्द से अगीकार करेगी, क्योकि पृथ्वी के जिन २ भागो मे सरकार का राज है वहा गवर्नमेन्ट अपनी सेना के बल पर उतना भरोसा नहीं करती जितना कि अपनी सन्तुष्ट और एकजी प्रजा की सहायता पर जो अपने राजा के वर्त्तमान रहने ही मे अपना नित्य मगल समझ कर सिंहासन के चारो ओर जी से सहायता करने के लिये इकट्ठे हो जाते है ।

श्रीमती महारानी निब्रल राज्यो को जीतने या आसपास की रियासतो को मिला लेने से हिन्दुस्तान के राजकी उन्नति नही समझतीं बरन इस बात मे कि इस कोमल और न्याययुक्त राजशासन को निरुपद्रव बराबर चलाने मे इस देश की प्रजा क्रम से चतुराई और बुद्धिमानी के साथ भागी हो। जो उन का स्नेह और कर्त्तव्य केवल अपने ही राज से नहीं है बरन श्रीमती शुद्ध चित्त से यह भी इच्छा रखती है कि जो राजा लोग इस बडे राज की सीमा पर है और महारानी के प्रताप की छाया मे रहकर बहुत दिनो से स्वाधीनता का सुख भोगते आते है उन से निष्कपट भाव और मित्रता को दृढ़ रक्खे। परन्तु यदि इस राज के अमन चैन मे किसी प्रकार के बाहरी उपद्रव की शंका होगी तो श्रीमती हिन्दुस्तान की राजराजेश्वरी अपने पैतृक राज की रक्षा करना खूब जानती है। यदि कोई विदेशी शत्रु हिन्दुस्तान के इस महाराज पर चढाई करे तो मानो उस ने पूरब के सब राजओं से शत्रुता की, और उस दशा मे श्रीमती जो अपने राज के अपार बल, अपने स्नेही और कर देने वाले राजाओ की वीरता और राजभक्ति और अपनी प्रजा के स्नेह और शुभ चिन्तकता के कारण इस बात की भरपूर शक्ति है कि उसे परास्त कर के दड दे।

इस अवसर पर उन पूरब के राजाओ के प्रतिनिधियो का वर्त्तमान होना जिन्हो ने दूर २ देशो से श्रीमती को इस शुभ समारम्भ के लिये बधाई दी है, गवर्नमेन्ट आव इन्डिया के मेल के अभिप्राय, और आस पास के राजाओ के साथ उस के मित्र का स्पष्ट प्रमाण है। मै चाहता हू कि श्रीमती की हिन्दुस्तानी गवर्नमेन्ट की तरफ से श्रीयुत खानकिलात, और उन राजदूतो को जो इस अवसर पर श्रीमती के स्नेही राजाओ के प्रतिनिधि हो कर दूर २ से अगरेजी राज मे आए है, और अपने प्रतिष्ठित पाहुने श्रीयुत गवरनर जेनरल गोआ, और बाहरी कान्सलो का स्वागत करू।

हे हिन्दुस्तान के रईस और प्रजा लोग,—मै आनन्द के साथ आप लोगो को वह कृपा पूर्वक सदेशा जो श्रीमती महारानी आप लोगो की राजराजेश्वरी ने आज आप लोगो को अपने राजसी और राजेश्वरीय नाम से भेजा है सुनाता हू। जो वाक्य श्रीमती के यहा से आज सवेरे तार के द्वारा मेरे पास पहुचे है ये है:—

"हम विक्टोरिया ईश्वर की कृपा से, सयुक्त राज (ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैन्ड) की महारानी, हिन्दुस्तान की राजराजेश्वरी, अपने वाइसराय के द्वारा अपने सब राज काज सम्बन्धी और सेनासबधी अधिकारियो, रईसो, सरदारो और प्रजा को जो इस समय दिल्ली मे इकट्ठे है अपना राजसी और राज-राजेश्वरीय आशीर्वाद भेजते है और उस भारी कृपा और पूर्ण स्नेह का विश्वास कराते है जो हम अपने हिन्दुस्तान के महाराज्य की प्रजा की ओर रखते है।

हम को यह देख कर जी से प्रसन्नता हुई कि हमारे प्यारे पुत्र का इन लोगों ने कैसा कुछ आदर सत्कार किया, और अपने कुल और सिंहासन की ओर उन की राजभक्ति और स्नेह के इस प्रमाण से हमारे जी पर बहुत असर हुआ। हमे भरोसा है कि इस शुभ अवसर का यह फल होगा कि हमारे और हमारी प्रजा के बीच स्नेह और दृढ़ होगा, और सब छोटे बड़े को इस बात का निश्चय हो जायगा कि हमारे राज मे उन लोगो को स्वतन्त्रता, धर्म और न्याय प्राप्त है, और हमारे राज का अभिप्राय और इच्छा सदा यही है कि उन के सुख की वृद्धि, सौभाग्य की अधिकता, और कल्याण की उन्नति होती रहे।"

मुझे विश्वास है कि आप लोग इन कृपामय वाक्यो की गुणग्राहकता करेगे।

ईश्वर विक्टोरिया संयुक्त राज की महारानी और हिंदुस्तान की राजराजेश्वरी की रक्षा करे।

इस अड्रेस के समाप्त होते ही नैशनल ऐन्थेम का बाजा बजने लगा और सेना ने तीन बार हुर्रे शब्द की आनन्दध्वनि की। दरबार के लोगो ने भी परम उत्साह से खडे होकर हुर्रे शब्द और हथेलियो की आनन्दध्वनि करके अपने जी का उमग प्रगट किया। महाराज सेंधिया, निजाम की ओर से सर सालारजग, राजपुताना के महाराजो की तरफ़ से महाराज जयपुर, बेगम भूपाल, महाराज कश्मीर, और दूसरे सरदारो ने खड़े होकर एक दूसरे को बधाई दी और अपनी राजभक्ति प्रगट की। इस के अनन्तर श्रीयुत वाइसराय ने आज्ञा की कि दरबार हो चुका और अपनी चार घोड़े की गाडी पर चढ़कर अपने खेमे को रवाने हुए।

———

हास्य और व्यंग लेख

१ कंकड़ स्तोत्र
२ अंग्रेज स्तोत्र
३ मदिरा स्तोत्र
४. स्त्री सेवा पद्धति
५ पांचवे पैगंबर
६. स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन
७ लेवी प्राण लेवी
८ जाति विवेकिनी सभा
९ सबै जाति गोपाल की

निबंधों से भारतेंदु की हास्यपूर्ण और विनोदशील प्रवृत्ति का परिचय मिलता है और यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि विनोदशीलता के पीछे गंभीरता भी छिपी हुई है, और वह निरर्थक नहीं है। इन निबंधों में शुद्ध हास्य, वाक्यपटुता और व्यंग सभी के दर्शन होते है। इनके हास्य और व्यंग का उद्देश्य सामाजिक सुधार और संस्कार है। हास्यपूर्ण लेखो मे ही किसी के भाषाधिकार की परीक्षा होती है। भारतेंदु इस परीक्षा में पूर्णतया सफल हुए है। इन लेखो की भाषा का चलतापन और बॉकापन देखने के योग्य है।

इन स्तोत्रों मे हल्का व्यंग छिपा है। 'कंकड स्तोत्र' में काशी की म्यूनिसि-पैलिटी के कुप्रबंध पर छींटे है। बरसात में सडक के ठीक न होने पर क्या दशा होती है यही इस लेख का वस्तुविषय है। कंकड़ो की करामात पर लिखा गया यह लेख भारतेंदु के शुद्ध हास्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

'अंग्रेज स्तोत्र' में अंग्रेजो पर व्यंग है, किन किन रूपो में उनकी भावना की गई है यह द्रष्टव्य है। 'मदिरा स्तोत्र' में मदिरा की व्याज-है। 'स्त्री सेवा पद्धति' में स्त्री जाति के संबध में व्यंगात्मक उद्गार प्रकट किए गए है।

'पांचवे पैगंबर' में पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण पर व्यंग है। कहा जाता है कि 'चूसा' पैगंबर का रूप बना कर भारतेंदु स्वयं रंगमंच पर आए थे।

'स्वर्ग मे विचार सभा' मे भारतेंदु ने केशवचंद्र सेन और स्वामी दयानंद पर आक्षेप किए है। मनोरंजन की सामग्री के साथ बहुत सी ज्ञातव्य बातें भी इस लेख मे मिलेगी। इसकी कल्पनात्मक शैली उल्लेखनीय है।

'लेवी प्राण लेवी' मे राजनीतिक व्यंग है। काशी मे सरकार का जो दर्बार हुआ था उसमे वहा के रईसो की क्या दशा हो रही थी इसी का हास्यपूर्ण वर्णन है। इसी लेख के कारण भारतेंदु को सरकार का कोप-भाजन बनना पड़ा था।

'जाति विवेकिनी सभा' और 'सबै जाति गोपाल की' लेखो मे सामाजिक व्यंग है। काशी के पंडित जो किसी लोभ वश जाति व्यवस्था दिया करते थे वे ही इस के लक्ष्य है। ये दोनो लेख पत्र की संवाद वाली नाटकीय शैली मे लिखे गए है। भारतेंदु-युग मे इस प्रकार की नाटकीय शैली का बड़ा प्रचार था किंतु आगे चलकर हिंदी के लेखको ने न जाने क्यो इसका परित्याग कर दिया।]

भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है

भारतेंदु हरिश्चंद्र

आज बड़े आनंद का दिन है कि छोटे से नगर बलिया में हम इतने मनुष्यों को एक बड़े उत्साह से एक स्थान पर देखते हैं। इस अभागे आलसी देश में जो कुछ हो जाए वही बहुत है। बनारस ऐसे-ऐसे बड़े नगरों में जब कुछ नहीं होता तो हम यह न कहेंगे कि बलिया में जो कुछ हमने देखा वह बहुत ही प्रशंसा के योग्य है। इस उत्साह का मूल कारण जो हमने खोजा तो प्रगट हो गया कि इस देश के भाग्य से आजकल यहाँ सारा समाज ही एकत्र है। राबर्ट साहब बहादुर ऐसे कलेक्टर जहाँ हो वहाँ क्यों न ऐसा समाज हो। जिस देश और काल में ईश्वर ने अकबर को उत्पन्न किया था उसी में अबुलफजल, बीरबल,टोडरमल को भी उत्पन्न किया। यहाँ राबर्ट साहब अकबर हैं जो मुंशी चतुर्भुज सहाय, मुंशी बिहारीलाल साहब आदि अबुलफजल और टोडरमल हैं। हमारे हिंदुस्तानी लोग तो रेल की गाड़ी है। यद्यपि फर्स्ट क्लास, सैकेंड क्लास आदि गाड़ी बहुत अच्छी-अच्छी और बड़े-बड़े महसूल की इस ट्रेन में लगी है पर बिना इंजिन सब नहीं चल सकती वैसी ही हिंदुस्तानी लोगों को कोई चलाने वाला हो तो ये क्या नहीं कर सकते। इनसे इतना कह दीजिए 'का चुप साधि रहा बलवाना' फिर देखिए हनुमानजी को अपना बल कैसा याद आता है। सो बल कौन याद दिलावे। हिंदुस्तानी राजे-महाराजे, नवाब, रईस या हाकिम। राजे-महाराजों को अपनी पूजा, भोजन, झूठी गप से छुट्टी नहीं। हाकिमों को कुछ तो सरकारी काम घेरे रहता है कुछ बाल-घुड़दौड़, थियेटर में समय लगा। कुछ समय बचा भी तो उनको क्या गरह है कि हम गरीब, गंदे, काले आदमियों से मिल कर अपना अनमोल समय खोवें। बस यही मसल रही -

"तुम्हें गैरों से कब फुरसत, हम अपने गम से कब खाली।

चलो बस हो चुका मिलना न हम खाली न तुम खाली॥"

तीन मेंढ़क एक के ऊपर एक बैठे थे। ऊपर वाले ने कहा, 'जौक शौक', बीच वाल बोला, 'गम सम',सब के नीचे वाला पुकारा, 'गए हम'। सो हिंदुस्तान की प्रजा की दशा यही है 'गए हम'। पहले भी जब आर्य लोग हिंदुस्तान में आकर बसे थे राजा और ब्राह्मणों के जिम्मे यह काम था कि देश में नाना प्रकार की विद्या और नीति फैलावें और अब भी ये लोग चाहें तो हिंदुस्तान प्रतिदिन क्या प्रतिछिन बढ़े। पर इन्हीं लोगों को निकम्मेपन ने घेर रखा है। 'बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः

प्रभवः समर दूषिताः' हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में जबकि इनके पुरुखों के पास कोई भी सामान नहीं था तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्टी की कुटियों में बैठ कर बाँस की नालियों से जो तारा, ग्रह आदि बेध कर के उनकी गति लिखी है वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपए की लागत से विलायत में जो दूरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को वेध करने में भी ठीक वही गति आती है और अब आज इस काल में हम लोगों की अंग्रेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं जब हम लोग निरी चुंगी की कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन, अंग्रेज, फरांसीस आदि तुरकी-ताजी सब सरपट्ट दौड़े जाते हैं। सब के जी में यही है कि पाला हमी पहले छू लें। उस समय हिंदू का टियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देख कर के भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जाएगा फिर कोटि उपाय किए भी आगे न बढ़ सकेगा। लूट की इस बरसात में भी जिस के सिर पर कम्बख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्टी बँधी रहे उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

मुझको मेरे मित्रों ने कहा था कि तुम इस विषय पर आज कुछ कहो कि हिंदुस्तान की कैसे उन्नति हो सकती है। भला इस विषय पर मैं और क्या कहूँ भागवत में एक श्लोक है - "नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारं मयाऽनुकूलेन तपः स्वतेरितं पुमान भवाब्धि न तरेत स आत्महा।" भगवान कहते हैं कि पहले तो मनुष्य जन्म ही दुर्लभ है सो मिला और उस पर गुरु की कृपा और उस पर मेरी अनुकूलता। इतना सामान पाकर भी मनुष्य इस संसार सागर के पार न जाए उसको आत्महत्यारा कहना चाहिए, वही दशा इस समय हिंदुस्तान की है। अंग्रेजों के राज्य में सब प्रकार का सामान पाकर, अवसर पा कर भी हम लोग जो इस समय उन्नति न करें तो हमारे केवल अभाग्य और परमेश्वर का कोप ही है। सास और अनुमोदन से एकांत रात में सूने रंग महल में जाकर भी बहुत दिनों से प्राण से प्यारे परदेसी पति से मिल कर छाती ठंडी करने की इच्छा भी उसका लाज से मुँह भी न देखे और बोले भी न तो उसका अभाग्य ही है। वह तो कल परदेस चला जाएगा। वैसे ही अंग्रेजों के राज्य में भी जो हम मेंढ़क, काठ के उल्लू, पिंजड़े के गंगाराम ही रहें तो फिर हमारी कमबख्त कमबख्ती फिर कमबख्ती ही है। बहुत लोग यह कहेंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही नहीं रहती, बाबा, हम क्या उन्नति करें। तुम्हारा पेट भरा है तुम को दून की सूझती है। उसने एक हाथ से अपना पेट भरा दूसरे हाथ से उन्नति के काँटों को साफ किया। क्या इंग्लैंड में किसान, खेत वाले, गाड़ीवान, मजदूर, कोचवान आदि नहीं हैं? किसी देश में भी सभी पेट भरे हुए नहीं होते, किंतु वे लोग जहाँ खेत जोतते-बाते हैं वहीं उसके साथ यह भी सोचते हैं कि ऐसी कौन नई कल व मसाला बनावें जिससे इस खेत में आगे से दून अनाज उपजे। विलायत में गाड़ी के कोचवान भी अखबार पढ़ते हैं। जब मालिक उतरकर किसी दोस्त के यहाँ गया उसी समय कोचवान ने गद्दी के नीचे से अखबार निकाला। यहाँ उतनी देर कोचवान हुक्का पिएगा या गप्प करेगा। सो गप्प भी निकम्मी। वहाँ के लोग गप्प ही में देश के प्रबंध छाँटते हैं। सिद्धांत यह कि वहाँ के लोगों का यह सिद्धांत है कि

एक छिन भी व्यर्थ न जाए। उसके बदले यहाँ के लोगों को जितना निकम्मापन हो उतना ही बड़ा अमीर समझा जाता है। आलस्य यहाँ इतनी बढ़ गई कि मलूकदास ने दोहा ही बना डाला -

"अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।

दास मलूका कहि गए सबके दाता राम॥"

चारों ओर आँख उठाकर देखिए तो बिना काम करने वालों की ही चारों ओर बढ़ती है। रोजगार कहीं कुछ भी नहीं है अमीरों, मुसाहिबी, दल्लालों या अमीरों के नौजवान लड़कों को खराब करना या किसी की जमा मार लेना इनके सिवा बतलाइए और कौन रोजगार है जिससे कुछ रुपया मिले। चारों ओर दरिद्रता की आग लगी हुई है किसी ने बहुत ठीक कहा है कि दरिद्र कुटुंबी इस तरह अपनी इज्जत को बचाता फिरता है जैसे लाजवंती बहू फटे कपड़ों में अपने अंग को छिपाए जाती है। वही दशा हिंदुस्तान की है। मुर्दम-शुमारी का रिपोर्ट देखने से स्पष्ट होता है कि मनुष्य दिन-दिन यहाँ बढ़ते जाते हैं और रुपया दिन-दिन कमती होता जाता है। सो अब बिना ऐसा उपाय किए काम नहीं चलेगा कि रुपया भी बढ़े और वह रुपया बिना बुद्धि के न बढ़ेगा। भाइयों, राजा-महाराजों का मुँह मत देखो। मत यह आशा रखो कि पंडित जी कथा में ऐसा उपाय बतलाएँगे कि देश का रुपया और बुद्धि बढ़े। तुम आप ही कमर कसो, आलस छोड़ो, कब तक अपने को जंगली, हूस, मूर्ख, बोदे, डरपोक पुकरवाओगे। दौड़ो इस घुड़दौड़ में, जो पीछे पड़े तो फिर कहीं ठिकाना नहीं है। 'फिर कब-कब राम जनकपुर एहै' अब की जो पीछे पड़े तो फिर रसातल ही पहुँचोगे। जब पृथ्वीराज को कैद कर के गोर ले गए तो शहाबुद्दीन के भाई गयासुद्दीन से किसी ने कहा कि वह शब्दबेधी बाण बहुत अच्छा मारता है। एक दिन सभी नियत हुई और सात लोहे के तावे बाण से फोड़ने को रखे गए। पृथ्वीराज को लोगों ने पहिले से ही अंधा कर दिया था। संकेत यह हुआ कि जब गयासुद्दीन 'हूँ' करे तब वह तावे पर बाण मारे। चंद कवि भी उसके साथ कैदी था। यह सामान देख कर उसने यह दोहा पढ़ा -

"अब की चढ़ी कमान को जाने फिर कब चढ़े।

जिन चूके चहुआज इक्के मारय इक्क सर।"

उसका संकेत समझ कर जब गयासुद्दीन ने 'हूँ' किया तो पृथ्वीराज ने उसी को बाण मार दिया। वही बात अब है। 'अब की चढ़ी' इस समय में सरकार का राज्य पाकर और उन्नति का इतना सामान पाकर भी तुम लोग अपने को न सुधारों तो तुम्हीं रहो और वह सुधारना भी ऐसा होना चाहिए कि सब बात में उन्नति हो। धर्म में, घर के काम में, बाहर

के काम में, रोजगार में, शिष्टाचार में, चाल चलन में, शरीर में,बल में, समाज में, युवा में, वृद्ध में, स्त्री में, पुरुष में, अमीर में, गरीब में, भारतवर्ष की सब आस्था, सब जाति,सब देश में उन्नति करो। सब ऐसी बातों को छोड़ो जो तुम्हारे इस पथ के कंटक हों। चाहे तुम्हें लोग निकम्मा कहें या नंगा कहें, कृस्तान कहें या भ्रष्ट कहें तुम केवल अपने देश की दीन दशा को देखो और उनकी बात मत सुनो। अपमान पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः स्वकार्य साधयेत धीमान कार्यध्वंसो हि मूर्खता। जो लोग अपने को देश-हितैषी मानते हों वह अपने सुख को होम करके, अपने धन और मान का बलिदान करके कमर कस के उठो। देखा-देखी थोड़े दिन में सब हो जाएगा। अपनी खराबियों के मूल कारणों को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हैं। उन चोरों को वहाँ-वहाँ से पकड़ कर लाओ। उनको बाँध-बाँध कर कैद करो। हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्याभिचार करने आवे तो जिस क्रोध से उसको पकड़कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी उसका सत्यानाश करोगे उसी तरह इस समय जो-जो बातें तुम्हारे उन्नति पथ की काँटा हों उनकी जड़ खोद कर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ, दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से बाहर न निकाले जाएँगे , दरिद्र न हो जाएँगे , कैद न होंगे वरंच जान से न मारे जाएँगे तब तक कोई देश न सुधरेगा।

अब यह प्रश्न होगा कि भई हम तो जानते ही नहीं कि उन्नति और सुधारना किस चिड़िया का नाम है। किस को अच्छा समझे। क्या लें क्या छोड़ें तो कुछ बातें जो इस शीघ्रता से मेरे ध्यान में आती हैं उनको मैं कहता हूँ सुनो -

सब सुन्नियों का मूल धर्म है। इससे सबसे पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है। देखो अंग्रेजों की धर्मनीति राजनीति परस्पर मिली है इससे उनकी दिन-दिन कैसी उन्नति हुई है। उनको जाने दो अपने ही यहाँ देखो। तुम्हारे धर्म की आड़ में नाना प्रकार की नीति समाजगठन वैद्यक आदि भरे हुए हैं। दो-एक मिसाल सुनो तुम्हारा बलिया के मेला का यहीं स्थान क्यों चुना गया है जिसमें जो लोग कभी आपस में नहीं मिलते। दस-दस, पाँच-पाँच कोस से ले लोग एक जगह एकत्र होकर आपस में मिलें। एक दूसरे का दुःख-सुख जानें। गृहस्थी के काम की वह चीजें जो गाँव में नहीं मिलतीं यहाँ से ले जाएँ। एकादशी का व्रत क्यों रखा है? जिसमें महिने में दो-एक उपवास से शरीर शुद्ध हो जाए। गंगाजी नहाने जाते हैं तो पहले पानी सिर पर चढ़ा कर तब पैर पर डालने का विधान क्यों है? जिससे तलुए से गरमी सिर पर चढ़कर विकार न उत्पन्न करे। दीवाली इसी हेतु है कि इसी बहाने सालभर में एक बार तो सफाई हो जाए। होली इसी हेतु है कि बसंत की बिगड़ी हवा स्थान-स्थान पर अग्नि जलने से स्वच्छ हो जाए। यही तिहवार ही तुम्हारी म्युनिसिपालिटी है। ऐसे ही सब पर्व, सब तीर्थ, व्रत आदि में कोई हीकमत है। उन लोगों ने धर्मनीति और समाजनीति को दूध पानी की भाँति मिला दिया है। खराबी जो बीच में हुई वह यह है कि उन लोगों ने ये धर्म क्यों मानने लिखे थे। इसका लोगों ने मतलब नहीं समझा और इन बातों को वास्तविक धर्म मान लिया। भाइयों, वास्तविक धर्म तो केवल परमेश्वर के चरणकमल का भजन है। ये सब तो समाज धर्म है। जो देश काल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते

हैं। दूसरी खराबी यह हुई कि उन्हीं महात्मा बुद्धिमान ऋषियों के वंश के लोगों ने अपने बाप-दादों का मतलब न समझकर बहुत से नए-नए धर्म बना कर शास्त्रों में धर दिए बस सभी तिथि व्रत और सभी स्थान तीर्थ हो गए। सो इन बातों को अब एक बार आँख खोल कर देख और समझ लीजिए कि फलानी बात उन बुद्धिमान ऋषियों ने क्यों बनाई और उनमें देश और काल के अनुकूल और उपकारी हों उनका ग्रहण कीजिए। बहुत-सी बातें जो समाज विरुद्ध मानी जाती हैं किंतु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको मत चलाइए। जैसा जहाज का सफर, विधवा-विवाह आदि। लड़कों की छोटेपन ही में शादी करके उनका बल,बीरज, आयुष्य सब मत घटाइए। आप उनके माँ-बाप हैं या शत्रु हैं। वीर्य उनके शरीर में पुष्ट होने दीजिए। नोन, तेल लकड़ी की फिक्र करने की बुद्धि सीख लेने दीजिए तब उनका पैर काठ में डालिए। कुलीन प्रथा,बहु विवाह आदि को दूर कीजिए। लड़कियों को भी पढ़ाइए किंतु इस चाल में नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है जिससे उपकार के बदले बुराई होती है ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल-धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें। वैष्णव, शास्त्र इत्यादि नाना प्रकार के लोग आपस में बैर छोड़ दें यह समय इन झगड़ों का नहीं। हिंदू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए जाति में कोई चाहे ऊँचा हो, चाहे नीचा हो सबका आदर कीजिए। जो जिस योग्य हो उसे वैसा मानिए,छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मिलिए। मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिंदुस्तान में बस कर वे लोग हिंदुओं को नीचा समझना छोड़ दें। ठीक भाइयों की भाँति हिंदुओं से बरताव करें। ऐसी बात जो हिंदुओं का जी दुखाने वाली हो न करें। घर में आग लगे सब जिठानी, द्यौरानी को आपस का डाह छोड़ कर एकसाथ वह आग बुझानी चाहिए। जो बात हिंदुओं का नहीं मयस्सर है वह धर्म के प्रभाव से मुसलमानों को सहज प्राप्त है। उनके जाति नहीं, खाने-पीने में चौका-चूल्हा नहीं, विलायत जाने में रोक-टोक नहीं, फिर भी बड़े ही सोच की बात है कि मुसलमानों ने अभी तक अपनी दशा कुछ नहीं सुधारी। अभी तक बहुतों को यही ज्ञात है कि दिल्ली,लखनऊ की बादशाहत कायम है। यारो, वे दिन गए। अब आलस, हठधरमी यह सब छोड़ो। चलो हिंदुओं के साथ तुम भी दौड़ो एक-एक-दो होंगे। पुरानी बातें दूर करो। मीर हसन और इंदरसभा पढ़ा कर छोटेपन ही से लड़कों का सत्यानाश मत करो। होश संभाला नहीं कि पढ़ी पारसी, चुस्त कपड़ा पहनना और गजल गुनगुनाए -

"शौक तिल्फी से मुझे गुल की जो दीदार का था।

न किया हमने गुलिस्ताँ का सबक याद कभी॥"

भला सोचो कि इस हालत में बड़े होने पर वे लड़के क्यों न बिगड़ेंगे। अपने लड़कों को ऐसी किताबें छूने भी मत दो। अच्छी से अच्छी उनको तालीम दो। पैंशन और वजीफे या नौकरी का भरोसा छोड़ो। लड़कों को रोजगार सिखलाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मेहनत करने की आदत दिलाओ। सौ-सौ महलों के लाड़-प्यार, दुनिया से बेखबर रहने की राह मत दिखलाओ।

भाई हिंदुओं, तुम भी मतमतांतरों का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जप करो। जो हिंदुस्तान में रहे चाहे किसी जाति, किसी रंग का क्यों न हो वह हिंदू है। हिंदू की सहायता करो। बंगाली, मरट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मणों, मुसलमानों सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी जिससे तुम्हारे यहाँ बढ़े तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहे वह करो। देखा जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंग्लैंड, फरांसीस, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दीआसलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। जरा अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो वह अमेरिका की बनी है। जिस लकलाट का तुम्हारा अंगा है वह इंग्लैंड का है। फरांसीस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो और जर्मनी की बनी चरबी की बत्ती तुम्हारे सामने जल रही है। यह तो वही मसल हुई एक बेफिकरे मंगती का कपड़ा पहिन कर किसी महफिल में गए। कपड़े को पहिचान कर एक ने कहा - अजी अंगा तो फलाने का हे, दूसरा बोला अजी टोपी भी फलाने की है तो उन्होंने हँस कर जवाब दिया कि घर की तो मूछें ही मूछें हैं। हाय अफसोस तुम ऐसे हो गए कि अपने निज की काम के वस्तु भी नहीं बना सकते। भइयों अब तो नींद से जागो। अपने देश की सब प्रकार से उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो। वैसे ही खेल खेलो। वैसा बातचीत करो। परदेसी वस्तु और परदेसी भाषा का भरोसा मत रखो अपने में अपनी भाषा में उन्नति करो।. ●●●

प्रताप-पीयूष

स्वर्गीय पंडित प्रतापनारायण मिश्र

के

उत्तमोत्तम लेखों तथा कविताओं

का

संग्रह।

संकलनकर्त्ता

रमाकान्त त्रिपाठी, एम० ए०,

प्रोफ़ेसर, जसवन्त कालेज, जोधपुर।

प्रकाशक

सिटी बुक हाउस, कानपुर।

संस्करण] १९३३ [मूल्य १॥)

विषय-सूची

निबंध

पृष्ठ

कविता

न्यायशील सहृदय लोग अपना विचार आप प्रगट कर चुके हैं और करेंगे। पर हाँ इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी पत्रों की गणना में एक संख्या इसके द्वारा भी पूरित थी और साहित्य (लिटरेचर) को थोड़ा बहुत सहारा इससे भी मिला रहता था। इसी से हमारी इच्छा थी कि यदि खर्च भर भी निकलता रहे अथवा अपनी सामर्थ्य के भीतर कुछ गाँठ से भी निकल जाय तो भी इसे निकाले जायंगे। किन्तु जब इतने दिन में, देख लिया कि इतने बड़े देश में हमारे लिये सौ ग्राहक मिलना भी कठिन है। यों सामर्थ्यवानों और देशहितैषियों की कमी नहीं है। पर वर्ष भर में एक रुपया दे सकने वाले हमें सौ भी मिल जाते अथवा अपने इष्ट मित्रों में दस दस पांच पांच कापी बिकवा देने वाले दस पन्द्रह सज्जन भी होते तो हमें छः वर्ष में साढ़े पांच सौ की हानि क्यों सहनी पड़ती, जिसके लिये साल भर तक काले काँकर में स्वभाव विरुद्ध बनवास करना पड़ा। यह हानि और कष्ट हम बड़ी प्रसन्नता से अंगीकार किये रहते यदि देखते कि हमारे परिश्रम को देखने वाले और हमारे विचारों पर ध्यान देने वाले दस बीस सद् व्यक्ति भी हैं। पर जब वह भी आशा न हो तो इतनी मुड़धुन क्यों कर सही जा सकती?

शिव मूर्ति।

हमारे ग्रामदेव भगवान भूतनाथ सब प्रकार से अकथ्य

अप्रतर्क्य एवं अचिन्त्य हैं। तौ भी उनके भक्त जन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनकी सभी बातें सत्य हैं, अतः उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सब सत्य है। मनुष्य की भांति वे नाड़ी आदि बंधन से बद्ध नहीं हैं। इससे हम उनको निराकार कह सकते हैं और प्रेम दृष्टि से अपने हृदय मन्दिर में उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथा-तथ्य वर्णन उनका कोई नहीं कर सकता। तौ भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे कहा जावेगा सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मनः शांति कारक सत्य है !!! महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है वह निहायत सच है कि जैसे कई अंधों के आगे हाथी आवै और कोई उसका नाम बतादे, तो सब उसे टटोलेंगे। यह तो संभव ही नहीं है कि मनुष्य के बालक की भांति उसे गोद में ले के सब कोई अवयव का ठीक २ बोध कर ले। केवल एक अँग टटोल सकते हैं और दाँत टटोलने वाला हाथी को खूंटी के समान, कान छूने वाला सूप के समान, पांव स्पर्श करने वाला खंभे के समान कहेगा, यद्यपि हाथी न खूंटे के समान है न खंभे के। पर कहने वालों की बात झूठी भी नहीं है। उसने भली भांति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक एक अंग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं। ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। हम पूरा पूरा वर्णन वा पूरा साक्षात करलें तो वह अनंत कैसे और यदि निरा

अनन्त मान के अपने मन और वचन को उनकी ओर से बिल्कुल फेर लें तौ हम आस्तिक कैसे ! सिद्धान्त यह कि हमारी बुद्धि जहां तक है वहां तक उनकी स्तुति-प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शांति लाभ करेंगे !

उनके साथ जिस प्रकार का जितना सम्बन्ध हम रख सकें उतना ही हमारा मन बुद्धि शरीर संसार परमारथ के लिये मंगल है। जो लोग केवल जगत के दिखाने को वा सामाजिक नियम निभाने को इस विषय में कुछ करते हैं उनसे तो हमारी यही विनय है कि व्यर्थ समय न बितावैं। जितनी देर पूजा पाठ करते हैं, जितनी देर माला सरकाते हैं उतनी देर कमाने-खाने, पढ़ने-गुनने में ध्यान दें तो भला है ! और जो केवल शास्त्रार्थी आस्तिक हैं वे भी व्यर्थ ईश्वर को अपना पिता बना के निज माता को कलंक लगाते हैं। माता कहके विचारे जनक को दोषी ठहराते हैं, साकार कल्पना करके व्यापकता का और निराकार कह के अस्तित्व का लोप करते हैं। हमारा यह लेख केवल उनके विनोदार्थ है जो अपनी विचार शक्ति को काम में लाते हैं और ईश्वर के साथ जीवित सम्बन्ध रख के हृदय में आनन्द पाते हैं, तथा आप लाभकारक बातों को समझ के दूसरों को समझाते हैं ! प्रिय पाठक उसकी सभी बातें अनन्त हैं। तौ मूर्तियां भी अनन्त प्रकार से बन सक्ती हैं और एक एक स्वरूप में अनन्त उपदेश प्राप्त हो सकते हैं। पर हमारी बुद्धि अनन्त नहीं है, इससे कुछ एक प्रकार की मूर्तियों का कुछ २ अर्थ

लिखते हैं।

मूर्ति बहुधा पाषाण की होती है जिसका प्रयोजन यह है कि उनसे हमारा दृढ़ सम्बन्ध है। दृढ़ वस्तुओं की उपमा पाषाण से दी जाती है। हमारे विश्वास की नींव पत्थर पर है। हमारा धर्म पत्थर का है। ऐसा नहीं कि सहज में और का और हो जाय। इसमें बड़ा सुभीता यह भी है कि एक बार बनवा के रख ली, कई पीढ़ी को छुट्टी हुई। चाहे जैसे असावधान पूजक आवैं कोई हानि नहीं हो सकती है। धातु की मूर्ति से यह अर्थ है कि हमारा स्वामी द्रवण शील अर्थात् दयामय है। जहां हमारे हृदय में प्रेमाग्नि धधकी वहीं हमारा प्रभु हम पर पिघल उठा। यदि हम सच्चे तदीय हैं तो वह हमारी दशा के अनुसार बर्तेंगे। यह नहीं कि उन्हें अपना नियम पालने से काम। हम चाहें मरें चाहें जियें। रत्नमयी मूर्ति से यह भाव है कि हमारा ईश्वरीय सम्बन्ध अमूल्य है। जैसे पन्ना पुख-राज की मूर्ति विना एक गृहस्थी भर का धन लगाये नहीं हाथ आती। यह बड़े ही अमीर का साध्य है। वैसे ही प्रेममय परमात्मा भी हमको तभी मिलेंगे जब हम अपने ज्ञान का अभिमान खो दें। यह भी बड़े ही मनुष्य का काम है! मृत्तिका की मूर्ति का यह अर्थ है कि उनकी सेवा हम सब ठौर कर सकते हैं। जैसे मिट्टी और जल का अभाव कहीं नहीं है, वैसे ही ईश्वर का वियोग कहीं नहीं है। धन और गुण का ईश्वर प्राप्ति में कुछ काम नहीं। वह निरधन के धन हैं।

'हुनर मन्दों से पूछे जाते हैं बाबे हुनर पहिले'। या यों समझ लो कि सब पदार्थ आदि और अन्त में ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर ही में लय होते हैं इस बात से दृष्टान्त मट्टी से खूब घटता है। गोबर की मूर्ति यह सिखाती है कि ईश्वर आत्मिक रोगों का नाशक है हृदय मन्दिर की कुवासना रूपी दुरगंध को हरता है। पारे की मूर्ति में यह भाव है कि प्रेमदेव हमारे पुष्टि कारक 'सुगन्धं पुष्टि वर्द्धनं' यह मूर्ति बनाने वा बनवाने की सामर्थ्य न हो तो पृथ्वी और जल आदि अष्ठ मूर्ति बनी बनाई पूजा के लिये विद्यमान हैं।

वास्तविक प्रेम-मूर्ति मनोमन्दिर में बिराजमान है। पर यह दृश्य मूर्तियां भी निरर्थक नहीं हैं इनके कल्पनाकारी मूर्ति निन्दकों से अधिक पढ़े लिखे थे। मूर्तियों के रंग भी यद्यपि अनेक होते हैं पर मुख्य रंग तीन हैं। श्वेत जिसका अर्थ यह है कि परमात्मा शुद्ध है, स्वच्छ है; उसकी किसी बात में किसी का कुछ मेल नहीं है। पर सभी उसके ऐसे आश्रित हो सकते हैं जैसे उजले रंग पर सब रंग। वह त्रिगुणातीत तो हुई, पर त्रिगुणालय भी उसके बिना कोई नहीं। यदि हम सतोगुणमय भी कहें तो बेअदबी नहीं करते! दूसरा लाल रंग है जो रजोगुण का वर्ण है। ऐसा कौन कह सकता है कि यह संसार भर का ऐश्वर्य किसी और का है। और लीजिये कविता के आचार्यों ने अनुराग का रंग लाल कहा है। फिर अनुराग देव का रंग और क्या होगा? तीसरा रंग काला है। उसका भाव सब सोच सकते हैं कि सबसे

पक्का यही रंग है, इस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। ऐसेही प्रेमदेव सब से अधिक पक्के हैं उन पर और का रंग क्या चढ़ेगा? इसके सिवा बाह्य जगत के प्रकाशक नैन हैं। उनकी पुतली काली होती है, भीतर का प्रकाशक ज्ञान है। उसकी प्रकाशिनी विद्या है जिसकी समस्त पुस्तकें काली मसी से लिखी जाती है। फिर कहिए जिससे अंतर, बाहर दोनों प्रकाशित होते हैं, जो प्रेमियों को आंख की ज्योति से भी प्रियतर है, जो अनन्त विद्यामय है उसका फिर और क्या रंग हम मानें? हमारे रसिक पाठक जानते हैं किसी सुन्दर व्यक्ति के आंखों में काजल और गोरे गोरे गाल पर तिल कैसा भला लगता है कि कवियों भरे की पूरी शक्ति, रसिकों भर का सर्वस्व एक बार उस शोभा पर निछावर हो जाता है। यहां तक कि जिनके असली तिल नहीं होता उन्हें सुन्दरता बढ़ाने को कृत्रिम तिल बनाना पड़ता है। फिर कहिये तो, सर्व शोभामय परम सुन्दर का कौन रंग कल्पना करोगे? समस्त शरीर में सर्वोपरि शिर है उस पर केश कैसे होते हैं? फिर सर्वोत्कृष्ठ देवाधि देव का और क्या रंग है? यदि कोई बड़ा मैदान हो लाखों कोस का और रात को उसका अन्त लिया चाहो तो सौ दो सौ दीपक जलाओगे। पर क्या उनसे उसका छोर देख लोगे? केवल जहाँ दीप ज्योति है वहीं तक देख सकोगे फिर आगे अन्धकार ही तो है? ऐसे ही हमारी हमारे अगणित ऋषियों की सब की बुद्धि जिसका ठीक हाल नहीं प्रकाश सकती उसे अप्रकाशवत् न मानें तो क्या मानें? राम-

चन्द्र कृष्णचन्द्रादि को यदि अंगरेज़ी जमाने वाले ईश्वर न मानें तौ भी यह मानना पड़ेगा कि हमारी अपेक्षा ईश्वर से और उनसे अधिक सम्बन्ध था। फिर हम क्यों न कहें कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो इसी रंग ढंग का है।

अब आकारों पर ध्यान दीजिये। अधिकतर शिवमूर्ति लिङ्गाकार होती है जिसमें हाथ, पांव, मुख कुछ नहीं होते। सब मूर्ति पूजक कह देंगे कि 'हमको साक्षात् ईश्वर नहीं मानते न उसकी यथा तथ्य प्रति कृति मानें। केवल ईश्वर की सेवा करने के लिये एक संकेत चिन्ह मानते हैं।' यह बात आदि में शैवों ही के घर से निकली है, क्योंकि लिंग शब्द का अर्थ ही चिन्ह है।

सच भी यही है जो वस्तु बाह्य नेत्रों से नहीं देखी जाती उसकी ठीक ठीक मूर्ति ही क्या ? आनन्द की कैसी मूर्ति ? दुःख की कैसी मूर्ति ? रागिनी की कैसी मूर्ति ? केवल चित्तवृत्ति। केवल उसके गुणों का कुछ द्योतन !! बस ! ठीक शिव मूर्ति यही है। सृष्टि कर्तृत्व, अचिन्त्यत्व अप्रतिमत्व कई एक बातें लिंगाकार मूर्ति से ज्ञात होती हैं। ईश्वर यावत् संसार का उत्पादक है। ईश्वर कैसा है, यह बात पूर्ण रूप से कोई नहीं वर्णन कर सकता। अर्थात् उसकी सभी बातें गोल हैं। बस जब सभी बातें गोल हैं तो चिन्ह भी हमने गोलमोल कल्पना कर लिया यदि 'नतस्य प्रतिमास्ति' का ठीक अर्थ यही है कि ईश्वर प्रतिमा नहीं है। तो इसकी ठीक सिद्धि ज्योतिर्लिंग ही से होगी, क्योंकि जिसमें

हाथ, पाँव, मुख, नेत्रादि कुछ भी नहीं है उसे प्रतिमा कौन कह सकता है ? पर यदि कोई मोटी बुद्धि वाला कहे कि जो कोई अवयव ही नहीं तो फिर यही क्यों नहीं कहते कि कुछ नहीं है। हम उत्तर दे सकते हैं कि आंखें हों तो धर्म से कह सकते हो कि कुछ नहीं है ? तात्पर्य यह कि कुछ है, और कुछ नहीं है दोनों बातें ईश्वर के विषय में न कही जा सकें, न नहीं कहीं जा सके, और हाँ कहना भी ठीक है। एवं नहीं कहना भी ठीक है। इसी भांति शिवलिंग भी समझ लीजिये। वह निरवयव है, पर मूर्ति है। वास्तव में यह विषय ऐसा है कि मन, बुद्धि और बाणी से जितना सोचा समझा और कहा जाय उतना ही बढ़ता जायगा। और हम जन्म भर बका करेंगे, पर आपको यही जान पड़ेगा कि अभी श्री गणेशायनमः हुई है !!!

इसी से महात्मा लोग कह गये हैं कि ईश्वर को वाद में न ढूंढ़ो पर विश्वास में। इस लिये हम भी योग्य समझते हैं कि सावयव (हाथ पांव इत्यादि वाली) मूर्तियों के वर्णन की ओर झुकें जानना चाहिये कि जो जैसा होता है उसकी कल्पना भी वैसी ही होती है। यह संसार का जातीय धर्म है कि जो वस्तु हमारे आस पास हैं उन्हीं पर हमारी बुद्धि दौड़ती है। फ़ारस, अरब और इंग्लिश देश के कवि जब संसार की अनित्यता वर्णन करेंगे तो क़बरिस्तान का नक़शा खींचेंगे, क्योंकि उनके यहाँ स्मशान होते ही नहीं हैं। वे यह न कहें तो क्या कहें कि बड़े बड़े बादशाह ख़ाक में दबे हुए सोते हैं। यदि क़बर का

तख़ता उठा कर देखा जाय तो शायद दो चार हड्डियां निकलेंगी जिन पर यह नहीं लिखा कि यह सिकन्दर की हड्डी है यह दारा की इत्यादि ।

हमारे यहां उक्त विषय में स्मशान का वर्णन होगा, क्योंकि अन्य धर्मियों के आने से पहिले यहां कबरों की चाल ही न थी। यूरोप में ख़ूबसूरती के बयान में अलकावली का रंग काला कभी न कहेंगे। यहां ताम्र वर्ण सौन्दर्य का अंग न समझा जायगा। ऐसे ही सब बातों में समझ लीजिये तब समझ में आजायगा कि ईश्वर के विषय में बुद्धि दौड़ाने वाले सब कहीं सब काल में मनुष्य ही हैं। अतएव उसके स्वरूप की कल्पना मनुष्य ही के स्वरूप की सी सब ठौर की गई है। इंजील और कुरान में भी कहीं कहीं खुदा का दाहिना हाथ बायां हाथ इत्यादि वर्णित हैं, बरंच यह खुला हुआ लिखा है कि उसने आदम को अपने स्वरूप में बनाया। चाहे जैसी उलट फेर की बातें मौलवी साहब और पादरी साहब कहें, पर इसका यह भाव कहीं न जायगा कि ईश्वर यदि सावयव है तो उसका भी रूप हमारे ही रूप का सा होगा। हो चाहे जैसा पर हम यदि ईश्वर को अपना आत्मीय मानेंगे तो अवश्य ऐसा ही मान सक्ते हैं जैसों से प्रत्यक्ष में हमारा उच्च सम्बन्ध है। हमारे माता, पिता, भाई-बन्धु, राजा, गुरू जिनको हम प्रतिष्ठा का आधार एवं आधेय कहते हैं उन सब के हाथ, पाँव, नाक, मुँह हमारे हस्तपदादि से निकले हुए हैं, तो हमारे प्रेम

और प्रतिष्ठा का सर्वोत्कृष्ट सम्बन्धी कैसा होगा बस इसी मत पर सावयव सब मूर्ति मनुष्य की सी मूर्ति बनाई जाती है। विष्णुदेव की सुन्दर सौम्य मूर्तियां प्रेमोत्पादनार्थ हैं क्योंकि खूबसूरती पर चित्त अधिक आकर्षित होता है। भैरवादि की मूर्तियां भयानक हैं जिसका यह भाव है कि हमारा प्रभु हमारे शत्रुओं के लिये महा भयजनक है। अथच हम उसकी मंगल-मयी सृष्टि में हलचल डालेंगे तो वह कभी उपेक्षा न करेगा। उसका स्वभाव क्रोधी है। पर शिवमूर्ति में कई एक विशेषता हैं। उनके द्वारा हम यह यह उपकार यथामति ग्रहण कर सकते हैं।

शिर पर गंगा का चिन्ह होने से यह यह भाव है कि गंगा हमारे देश की सांसारिक और परमार्थिक सर्वस्व हैं और भगवान सदा शिव विश्वव्यापी हैं। अतः विश्वव्यापी की मूर्ति-कल्पना में जगत वा सर्वोपरि पदार्थ ही शिर स्थानी कहा जा सकता है। दूसरा अर्थ यह है कि पुराणों में गंगा की विष्णु के चरण से उत्पत्ति मानी गई है और शिवजी को परम वैष्णव कहा है। उस परमवैष्णववता की पुष्टि इससे उत्तम और क्या हो सकती है कि उनके चरण निर्गत जल को शिर पर धारण करें। ऐसे ही विष्णु भगवान को परम शैव लिखा है कि भगवान विष्णु नित्य सहस्त्र कमल पुष्पों से सदा शिव की पूजा करते थे। एक दिन एक कमल घट गया तो उन्होंने यह विचार के कि हमारा नाम कमल-नयन है अपना नेत्र कमल शिवजी के

चरण कमल को अर्पण कर दिया। सच है अधिक शैवता और क्या हो सकती है! हमारे शास्त्रार्थी भाई ऐसे वर्णन पर अनेक कुतर्क कर सकते हैं। पर उनका उत्तर हम कभी पुराण प्रतिपादन से देंगे। इस अवसर पर हम इतना ही कहेंगे कि ऐसे ऐसे सन्देह बिना कविता पढ़े कभी नहीं दूर होने के। हाँ, इतना हम कह सकते हैं कि भगवान विष्णु की शैवता और भगवान शिव की वैष्णवता का आलंकारिक वर्णन है। वास्तव में विष्णु अर्थात् व्यापक और शिव अर्थात् कल्याणमय यह दोनों एक ही प्रेम स्वरूप के नाम हैं। पर उसका वर्णन पूर्णतया असम्भव। अतः कुछ कुछ गुण एकत्र करके दो स्वरूप कल्पना कर लिये गये हैं जिसमें कवियों को वचन शक्ति के लिये आधार मिले।

हमारा मुख्य विषय शिवमूर्ति है और वह विशेषतः शैवों के धर्म का आधार है। अतः इन अप्रतर्क्य विषयों को दिग्दर्शन मात्र कथन करके अपने शैव भाइयों से पूछते हैं कि आप भगवान गंगाधर के पूजक होके वैष्णवों से किस बरते पर द्वेष रख सकते हैं? यदि धर्म से अधिक मतवालेपन पर श्रद्धा हो तो अपने प्रेमाधार भगवान भोलानाथ को परम वैष्णव एवं गंगाधार कहना छोड़ दीजिये! नहीं तो सच्चा शैव वही हो सकता है जो वैष्णव मात्र को आपको देवता समझे। इसी भांति यह भी समझना चाहिये कि गंगा जी परम शक्ति हैं इससे शैवों को शाक्तों के साथ भी विरोध अयोग्य है। यद्यपि

हमारी समझ में तो आस्तिक मात्र को किसी से द्वेष बुद्धि रखना पाप है, क्योंकि सब हमारे जगदीश ही की प्रजा हैं, सब हमारे खुदा ही के बन्दे हैं। इस नाते सभी हमारे आत्मीय बन्धु हैं पर शैव समाज का वैष्णव और शाक्त लोगों से बिशेष सम्बन्ध ठहरा। अतः इन्हें तो परस्पर महा मैत्री से से रहना चाहिये। शिवमूर्ति में अकेली गंगा कितना हित कर सकती हैं इसे जितने बुद्धिमान जितना विचारें उतना ही अधिक उपदेश प्राप्त कर सकते हैं। इस लिये हम इस विषय को अपने पाठकों के विचार पर छोड़ आगे बढ़ते हैं।

बहुत मूर्तियों के पांच मुख होते हैं जिससे हमारी समझ में यह आता है कि यावत संसार और परमार्थ क तत्व तो चार वेदों में आपको मिल जायगा, पर यह न समझियेगा कि उनका दर्शन भी वेद विद्या ही से प्राप्त है। जो कुछ चार वेद सिखलाते हैं उससे भी उनका रूप उनका गुण अधिक है। वेद उनकी बाणी है। केवल चार पुस्तकों पर ही उस बाणी की इति नहीं है। एक मुख और है जिसकी प्रेम-मयी बाणी केवल प्रेमियों के सुनने में आती है। केवल विद्या-भिमानी अधिकाधिक चार वेद द्वारा बड़ी हद्द चार फल (धर्मार्थ काम मोक्ष) पा जांयगे, पर उनके पंचम मुख सम्बन्धी सुख औरों के लिये है।

शिवमूर्ति क्या है और कैसी है यह बात तो बड़े बड़े ऋषि मुनि भी नहीं कह सकते हम क्या हैं। पर जहां तक

साधारणतया बहुत सी मूर्तियां देखने में आई हैं उनका कुछ वर्णन हमने यथामति किया, यद्यपि कोई बड़े बुद्धिमान इस विषय में लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बातें और भी लिखते, पर इतने लिखने से भी हमें निश्चय है किसी न किसी भाई का कुछ भला हो ही रहेगा। मरने के पीछे कैलाशवास तो विश्वास की बात है। हमने न कैलाश देखा है, न किसी देखने वाले से कभी वार्तालाप अथवा पत्र व्यवहार किया है। हां यदि होता होगा तो प्रत्येक मूर्ति के पूजक को ही रहेगा। पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को संसार ही में कैलाश का सुख प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि जहां शिव हैं वहां कैलाश है। तो जब हमारे हृदय में शिव होंगे तो हमारा हृदय-मन्दिर क्यों न कैलाश होगा ? हे विश्वनाथ ! कभी हमारे हृदय मन्दिर को कैलाश बनाओगे ? कभी वह दिन दिखाओगे कि भारतबासी मात्र केवल तुम्हारे हो जायं और यह पवित्र भूमि फिर कैलाश हो जाय ? जिस प्रकार अन्य धातु पाषाणादि निर्मित मूर्तियों का रामनाथ, वैद्यनाथ, आनन्देश्वर, खेरेश्वर आदि नाम होता है वैसे इस अक्षरमयी शिवमूर्ति के अगणित नाम हैं। हृदयेश्वर, मंगलेश्वर, भारतेश्वर इत्यादि पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर है। कोई महाशय प्रेम का ईश्वर न समझें। मुख्य अर्थ है कि प्रेममय ईश्वर। इनका दर्शन भी प्रेम-चक्षु के बिना दुर्लभ है। जब अपनी अकर्मण्यता का और उनके एक एक उपकार का सच्चा ध्यान जमेगा तब अवश्य

हृदय उमड़ेगा, और नेत्रों से अश्रुधारा बह चलेगी। उस धारा का नाम प्रेमगंगा है। उसी के जल से स्नान कराने का माहात्म्य है। हृदय-कमल उनके चरणों पर चढ़ाने से अक्षय पुण्य है। यह तो इस मूर्ति की पूजा है जो प्रेम के बिना नहीं हो सकती। पर यह भी स्मरण रखिये कि यदि आप के हृदय में प्रेम है तो संसार भर के मूर्तिमान और अमूर्तिमान सब पदार्थ शिव मूर्ति हैं, अर्थात् कल्याण का रूप है। नहीं तो सोने और हीरे की मूर्ति तुच्छ है। यदि उससे स्त्री का गहना बनवाते तो उसकी शोभा होती, तुम्हें सुख होता, भैयाचारे में नाम होता, विपति काल में निर्बाह होता। पर मूर्ति से कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती। पाषाण, धातु, मृत्तिका का कहना ही क्या है? स्वयं तुच्छ पदार्थ है। केवल प्रेम ही के नाते ईश्वर हैं, नहीं तो घर की चक्की से भी गये बीते, पानी पीने के भी काम के नहीं, यही नहीं प्रेम के बिना ध्यान ही में क्या ईश्वर दिखाई देगा? जब चाहो आंखें मूंद के अन्धे की नक़ल कर देखो। अंधकार के सिवाय कुछ न सूझेगा। वेद पढ़ने में हाथ मुंह दोनों दुखेंगे। अधिक श्रम करोगे, दिमाग़ में गर्मी चढ़ जायगी। ख़ैर इन बातों के बढ़ाने से क्या है? जहां तक सहृदयता से विचार कीजियेगा वहां तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे शिर पैर के काम, स्वर्ग शेख़चिल्ली का महल, मुक्ति प्रेत की बहिन है। ईश्वर का तो पता ही लगना कठिन है। ब्रह्म शब्द ही नपुंसक अर्थात है। और हृदय

मन्दिर में प्रेम का प्रकाश है तौ संसार शिवमय है क्योंकि प्रेम ही वास्तविक शिवमूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप है ।

सोने का डण्डा और पौंड़ा ।

देखने में सुवर्ण दंड ही सुन्दर है । ताप देखो सुलाख देखो तो स्वर्ण दंड ही अपनी खराई दिखलावैगा । उसका बनना और ताकना बड़ी कारीगरी, बड़े ख़र्च, बड़ी शोभा और बड़ी चिन्ता का काम है । पर हम पूछते हैं कि जो पुरुष भूखा है, जो भूख के मारे चाहता है कुछ ही मिल जाय, तो आत्मा शान्ति हो उसके लिये वह डंडा किस काम है ? कदाचित बालक भी कह देगा कि कौड़ी काम का नहीं । यदि उसको बेचने जाय तो ख़रीदार मिलना मुशकिल है । साधारण लोग कहेंगे कहां का एक दरिद्र एक दम आगया जो घर की चीजें बेचे डालता है । कोई कहेगा कहां से उड़ा लाए ? सच तो यह है, जो कोई ऐसा ही शौकीन आँख का अन्धा गांठ का पूरा मिलेगा तो ले लेगा । परन्तु भूखी आत्मा इतनी कल है कि स्वर्ण दंड से परंपरा द्वारा भी अपना जी समझा सके । कदापि नहीं । इधर पौंडे को देखिये देखने में सुन्दरता व असुन्दरता का नाम नहीं, परीक्षा का काम नहीं । लड़का भी जानता है कि मिठाइयों भर का बाप है । बनाने और बनावाने वाला संसार से परे है । ले के चलने में कोई शोभा है न अशोभा । ताकने में कोई बड़ा खट खट तो नहीं है ।

बालमुकुंद गुप्त

शिवशंभु के चिट्ठे : निबंध

बनाम लार्ड कर्जन

माई लार्ड! लड़कपनमें इस बूढ़े भंगड़को बुलबुलका बड़ा चाव था। गांवमें कितने ही शौकीन बुलबुलबाज थे। वह बुलबुलें पकड़ते थे, पालते थे और लड़ाते थे, बालक शिवशम्भु शर्मा बुलबुलें लड़ानेका चाव नहीं रखता था। केवल एक बुलबुलको हाथपर बिठाकरही प्रसन्न होना चाहता था। पर ब्राह्मणकुमारको बुलबुल कैसे मिले? पिताको यह भय कि बालकको बुलबुल दी तो वह मार देगा, हत्या होगी। अथवा उसके हाथसे बिल्ली छीन लेगी तो पाप होगा। बहुत अनुरोधसे यदि पिताने किसी मित्रकी बुलबुल किसी दिन ला भी दी तो वह एक घण्टेसे अधिक नहीं रहने पाती थी। वह भी पिताकी निगरानीमें।

सरायके भटियारे बुलबुलें पकड़ा करते थे। गांवके लड़के उनसे दो दो तीन तीन पैसेमें खरीद लाते थे। पर बालक शिवशम्भु तो ऐसा नहीं कर सकता था। पिताकी आज्ञा बिना वह बुलबुल कैसे लावे और कहां रखे? उधर मनमें अपार इच्छा थी कि बुलबुल जरूर हाथपर हो। इसीसे जंगलमें उड़ती बुलबुलको देखकर जी फड़क उठता था। बुलबुलकी बोली सुनकर आनन्दसे हृदय नृत्य करने लगता था। कैसी-कैसी कल्पनाएं हृदयमें उठती थीं। उन सब बातोंका अनुभव दूसरोंको नहीं हो सकता। दूसरोंको क्या होगा? आज यह वही शिवशम्भु है, स्वयं इसीको उस बालकालके अनिर्वचनीय चाव और आनन्दका अनुभव नहीं होसकता।

बुलबुल पकड़नेकी नाना प्रकारकी कल्पनाएं मनही मनमें करता हुआ बालक शिवशम्भु सोगया। उसने देखा कि संसार बुलबुलमय है। सारे गांवमें बुलबुलें उड़ रही है। अपने घरके सामने खेलनेका जो मैदान है, उसमें सैकड़ों बुलबुल उड़ती फिरती है। फिर वह सब ऊंची नहीं उड़तीं। बहुत नीची नीची उड़ती है। उनके बैठनेके अड्डे भी नीचे नीचे है। वह कभी उड़ कर इधर जाती हैं और कभी उधर, कभी यहां बैठती है और कभी वहां, कभी स्वयं उड़कर बालक शिवशम्भुके हाथकी उंगलियोंपर आ बैठती है। शिवशम्भु आनन्दमें मस्त होकर इधर-उधर दौड़ रहा है। उसके दो तीन साथी भी उसी प्रकार बुलबुलें पकड़ते और छोड़ते इधर उधर कूदते फिरते है।

आज शिवशम्भुकी मनोवाञ्छा पूर्ण हुई। आज उसे बुलबुलोंकी कमी नहीं है। आज उसके खेलनेका मैदान बुलबुलिस्तान बन रहा है। आज शिवशम्भु बुलबुलोंका राजाही नहीं, महाराजा है। आनन्दका सिलसिला यहीं नहीं टूट

गया। शिवशम्भुने देखा कि सामने एक सुन्दर बाग है। वहींसे सब बुलबुलें उड़कर आती हैं। बालक कूदता हुआ दौड़कर उसमें पहुंचा। देखा, सोनेके पेड़ पत्ते और सोने ही के नाना रंगके फूल हैं। उनपर सोनेकी बुलबुलें बैठी गाती हैं और उड़ती फिरती हैं। वहीं एक सोनेका महल है। उसपर सैकड़ों सुनहरी कलश हैं। उनपर भी बुलबुलें बैठी हैं। बालक दो तीन साथियों सहित महलपर चढ़ गया। उस समय वह सोनेका बागीचा सोनेके महल और बुलबुलों सहित एक बार उड़ा। सब कुछ आनन्दसे उड़ता था, बालक शिवशम्भु भी दूसरे बालकों सहित उड़ रहा था। पर यह आमोद बहुत देर तक सुखदायी न हुआ। बुलबुलोंका ख्याल अब बालकके मस्तिष्कसे हटने लगा। उसने सोचा - हैं! मैं कहां उड़ा जाता हूं? माता पिता कहां? मेरा घर कहां? इस विचारके आतेही सुखस्वप्न भंग हुआ। बालक कुलबुलाकर उठ बैठा। देखा और कुछ नहीं, अपनाही घर और अपनी ही चारपाई है। मनोराज्य समाप्त हो गया।

आपने माई लार्ड! जबसे भारतवर्ष में पधारे हैं, बुलबुलोंका स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करनेके योग्य काम भी किया है? खाली अपना खयालही पूरा किया है या यहांकी प्रजाके लिये भी कुछ कर्तव्य पालन किया? एक बार यह बातें बड़ी धीरतासे मनमें विचारिये। आपकी भारतमें स्थितिकी अवधिके पांच वर्ष पूरे हो गये अब यदि आप कुछ दिन रहेंगे तो सूदमें, मूलधन समाप्त हो चुका। हिसाब कीजिये नुमायशी कामोंके सिवा कामकी बात आप कौनसी कर चले हैं और भड़कबाजीके सिवा ड्यूटी और कर्तव्यकी ओर आपका इस देशमें आकर कब ध्यान रहा है? इस बारके बजटकी वक्तृताही आपके कर्तव्यकालकी अन्तिम वक्तृता थी। जरा उसे पढ़ तो जाइये फिर उसमें आपकी पांच सालकी किस अच्छी करतूतका वर्णन है। आप बारम्बार अपने दो अति तुमतराकसे भरे कामोंका वर्णन करते हैं। एक विक्टोरिया मिमोरियलहाल और दूसरा दिल्ली-दरबार। पर जरा विचारिये तो यह दोनों काम "शो" हुए या "ड्यूटी"? विक्टोरिया मिमोरियलहाल चन्द पेट भरे अमीरोंके एक दो बार देख आनेकी चीज होगा उससे दरिद्रोंका कुछ दु:ख घट जावेगा या भारतीय प्रजाकी कुछ दशा उन्नत हो जावेगी, ऐसा तो आप भी न समझते होंगे।

अब दरबारकी बात सुनिये कि क्या था? आपके खयालसे वह बहुत बड़ी चीज था। पर भारतवासियोंकी दृष्टिमें वह बुलबुलोंके स्वप्न से बढ़कर कुछ न था। जहां जहां से वह जुलूसके हाथी आये, वहीं वहीं सब लौट गये। जिस हाथी पर आप सुनहरी झूलें और सोनेका हौदा लगवाकर छत्र-धारण-पूर्वक सवार हुए थे, वह अपने कीमती असबाब सहित जिसका था, उसके पास चला गया। आप भी जानते थे कि वह आपका नहीं और दर्शक भी जानते थे कि आपका नहीं। दरबारमें जिस सुनहरी सिंहासनपर विराजमान होकर आपने भारतके सब राजा महाराजाओंकी सलामी ली थी, वह भी वहीं तक था और आप स्वयं भलीभांति जानते हैं कि वह आपका न था। वह भी जहांसे आया था वहीं चला गया। यह सब चीजें खाली नुमायशी थीं। भारतवर्षमें वह पहलेहीसे मौजूद थीं। क्या इन सबसे आपका कुछ गुण प्रकट हुआ? लोग विक्रम को याद करते हैं या उसके सिंहासनको, अकबरको या उसके तख्त को? शाहजहांकी इज्जत उसके गुणोंसे थी या तख्तेताऊस से? आप जैसे बुद्धिमान पुरुषके लिये यह सब बातें विचारने की हैं।

चीज वह बनना चाहिये जिसका कुछ देर कयाम हो। मातापिताकी याद आते ही बालक शिवशम्भुका सुखस्वप्न भंग होगया। दरबार समाप्त होते ही वह दरबार-भवन, वह एम्फीथियेटर तोड़कर रख देनेकी वस्तु हो गया। उधर बनाना, इधर उखाड़ना पड़ा। नुमायशी चीजोंका यही परिणाम है। उनका तितलियोंकासा जीवन होता है। माई माई लार्ड! आपने कछाड़के चायवाले साहबोंकी दावत खाकर कहा था कि यह लोग यहां नित्य हैं और हम लोग कुछ दिनके लिये। आपके वह "कुछ दिन" बीत गये। अवधि पूरी हो गई। अब यदि कुछ दिन और मिलें तो वह किसी पुराने पुण्यके बलसे समझिये। उन्हींकी आशापर शिवशम्भु शर्मा यह चिट्ठा आपके नाम भेज रहा है, जिससे इन माँगे दिनोंमें तो एक बार आपको अपने कर्तव्य खयाल हो।

जिस पदपर आप आरूढ़ हुए वह आपका मौरूसी नहीं - नदीनाव संयोग की भांति है। आगे भी कुछ आशा नहीं कि इस बार छोड़ने के बाद आपका इससे कुछ सम्बन्ध रहे। किन्तु जितने दिन आपके हाथमें शक्ति है, उतने दिन कुछ करनेकी शक्ति भी है। जो कुछ आपने दिल्ली आदिमें कर दिखाया उसमें आपका कुछ भी न था, पर वह सब कर दिखानेकी शक्ति आपमें थी। उसी प्रकार जानेसे पहले, इस देशके लिये कोई असली काम कर जानेकी शक्ति आपमें है। इस देशकी प्रजा के हृदयमें कोई स्मृति-मन्दिर बना जानेकी शक्ति आपमें है। पर यह सब तब हो सकता है, कि वैसी स्मृतिकी कुछ कदर आपके हृदयमें भी हो। स्मरण रहे धातुकी मूर्तियोंके स्मृतिचिह्नसे एक दिन किलेका मैदान भर जायगा। महारानीका स्मृति-मन्दिर मैदानकी हवा रोकता था या न रोकता था, पर दूसरों की मूर्तियां इतनी हो जावेंगी कि पचास पचास हाथपर हवाको टकराकर चलना पड़ेगा। जिस देश में लार्ड लैंसडौन की मूर्ति बन सकती है, उसमें और किस किसकी मूर्ति नहीं बन सकती? माई लार्ड! क्या आप भी चाहते हैं कि उसके आसपास आपकी एक वैसीही मूर्ति खड़ी हो?

यह मूर्तियां किस प्रकारके स्मृतिचिह्न है? इस दरिद्र देशके बहुत-से धन की एक ढेरी है, जो किसी काम नहीं आ सकती। एक बार जाकर देखनेसे ही विदित होता है कि वह कुछ विशेष पक्षियोंके कुछ देर विश्राम लेनेके अड्डेसे बढ़कर कुछ नहीं है। माई माई लार्ड! आपकी मूर्तिकी वहां क्या शोभा होगी? आइये मूर्तियां दिखावें। वह देखिये एक मूर्ति है, जो किलेके मैदानमें नहीं है, पर भारतवासियों के हृदयमें बनी हुई है। पहचानिये, इस वीर पुरुषने मैदानकी मूर्तिसे इस देशके करोड़ों गरीबों के हृदयमें मूर्ति बनवाना अच्छा समझा। यह लार्ड रिपनकी मूर्ति है। और देखिये एक स्मृतिमन्दिर, यह आपके पचास लाखके संगमर्मरवालेसे अधिक मजबूत और सैकड़ो गुना कीमती है। यह स्वर्गीया विक्टोरिया महारानीका सन् 1858 ई. का घोषणापत्र है। आपकी यादगार भी यहीं बन सकती है, यदि इन दो यादगारोंकी आपके जीमें कुछ इज्जत हो।

मतलब समाप्त होगया। जो लिखना था, वह लिखा गया। अब खुलासा बात यह है कि एक बार 'शो' और ड्यूटीका मुकाबिला कीजिये। 'शो' को 'शो' ही समझिये। 'शो' ड्यूटी नहीं है! माई लार्ड! आपके दिल्ली दरबारकी याद कुछ दिन बाद उतनी ही रह जावेगी जितनी शिवशम्भु शर्माके सिरमें बालकपनके उस सुखस्वप्नकी है।

['भारत मित्र',11, अप्रैल 1903 ई.]

श्रीमान्-का स्वागत्

जो अटल है, वह टल नहीं सकती। जो होनहार है, वह होकर रहती है। इसीसे फिर दो वर्षके लिये भारतके वैसराय और गवर्नर जनरल होकर लार्ड कर्जन आते है। बहुतसे विघ्नोंको हटाते और बाधाओंको भगाते फिर एक बार भारतभूमिमें आपका पदार्पण होता है। इस शुभयात्राके लिये वह गत नवम्बरको सम्राट् एडवर्डसे भी विदा ले चुके है। दर्शनमें अब अधिक विलम्ब नहीं है।

इस समय भारतवासी यह सोच रहे हैं कि आप क्यों आते है और आप यह जानते भी हैं कि आप क्यों आते हैं। यदि भारतवासियोंका बश चलता तो आपको न आने देते और आपका बश चलता तो और भी कई सप्ताह पहले आ विराजते। पर दोनों ओरकी बाग किसी औरहीके हाथ में हैं। निरे बेबश भारतवासियोंका कुछ बश नहीं है और बहुत बातों पर बश रखनेवाले लार्ड कर्जनको भी बहुत बातोंमें बेबश होना पड़ता है। इसीसे भारतवासियोंको लार्ड कर्जनका आना देखना पड़ता है और उक्त श्रीमानको अपने चलनेमें विलम्ब देखना पड़ा। कवि कहता है -

"जो कुछ खुदा दिखाये, सो लाचार देखना।"

अभी भारतवासियोंको बहुत कुछ देखना है और लार्ड कर्जनको भी बहुत कुछ। श्रीमानको नये शासनकालके यह दो वर्ष निस्सन्देह देखनेकी वस्तु होंगे। अभीसे भारतवासियों की दृष्टियां सिमटकर उस ओर जा पड़ी हैं। यह जबरदस्त द्रष्टा लोग अब बहुत कालसे केवल निर्लिप्त निराकार तटस्थ द्रष्टाकी अवस्थामें अतृप्त लोचनसे देख रहे हैं और न जाने कब तक देखे जावेंगे। अथक ऐसे हैं कि कितने ही तमाशे देख गये, पर दृष्टि नहीं हटाते हैं। उन्होंने पृथिवीराज, जयचन्दकी तबाही देखी, मुसलमानोंकी बादशाही देखी। अकबर, बीरबल, खानखाना और तानसेन देखे, शाहजहानी तख्तताऊस और शाही जुलूस देखे। फिर वही तख्त नादिरको उठाकर ले जाते देखा। शिवाजी और औरंगजेब देखे, क्लाइव हेस्टिंग्स से वीर अंग्रेज देखे। देखते-देखते बड़े शौकसे लार्ड कर्जनका हाथियोंका जुलूस और दिल्ली-दरबार देखा। अब गोरे पहलवान मिस्टर सेण्डोका छातीपर कितने ही मन बोझ उठाना देखनेको टूट पड़ते हैं। कोई

दिखानेवाला चाहिये भारतवासी देखनेको सदा प्रस्तुत हैं। इस गुणमें वह मोंछ मरोड़कर कह सकते हैं कि संसारमें कोई उनका सानी नहीं। लार्ड कर्जन भी अपनी शासित प्रजाका यह गुण जान गये थे, इसीसे श्रीमान्-ने लीलामय रुप धारण करके कितनीही लीलाएं दिखाई।

इसीसे लोग बहुत कुछ सोच विचार कर रहे हैं कि इन दो वर्षोंमें भारतप्रभु लार्ड कर्जन और क्या क्या करेंगे। पिछले पांच सालसे अधिक समयमें श्रीमान्-ने जो कुछ किया, उसमें भारतवासी इतना समझने लगे हैं कि श्रीमान्-की रुचि कैसी है और कितनी बातोंको पसन्द करते हैं। यदि वह चाहें तो फिर हाथियोंका एक बड़ा भारी जुलूस निकलवा सकते हैं। पर उसकी वैसी कुछ जरूरत नहीं जान पड़ती। क्योंकि जो जुलूस वह दिल्लीमें निकलवा चुके हैं, उसमें सबसे ऊंचे हाथीपर बैठ चुके हैं, उससे ऊंचा हाथी यदि सारी पृथिवीमें नहीं तो भारतवर्षमें तो और नहीं है। इसीसे फिर किसी हाथीपर बैठनेका श्रीमान्-को और क्या चाव हो सकता है? उससे ऊंचा हाथी और नहीं है। ऐरावतका केवल नाम है, देखा किसीने नहीं है। मेमथकी हड्डियां किसी किसी अजायबखानेमें उसी भांति आश्चर्यकी दृष्टिसे देखी जाती हैं, जैसे श्रीमान्-के स्वदेशके अजायबखानेमें कोई छोटा मोटा हाथी। बहुत लोग कह सकते हैं कि हाथीकी छोटाई बड़ाई पर बात नहीं, जुलूस निकले तो फिर भी निकल सकता है। दिल्ली नहीं तो कहीं और सही। क्योंकि दिल्लीमें आतशबाजी खूब चल चुकी थी, कलकत्तेमें फिर चलाई गई। दिल्लीमें हाथियोंकी सवारी हो चुकनेपर भी कलकत्तेमें रोशनी और घोड़ागाड़ीका तार जमा था। कुछ लोग कहते हैं कि जिस कामको लार्ड कर्जन पकड़ते है, पूरा करके छोड़ते है। दिल्ली दरबारमें कुछ बातोंकी कसर रह गयी थी। उदयपुर के महाराणा न तो हाथियोंके जुलूसमें साथ चल सके न दरबारमें हाजिर होकर सलामी देनेका मौका उनको मिला। इसी प्रकार बड़ोदानरेश हाथियोंके जुलूसमें शामिल न थे। वह दरबारमें भी आये तो बड़ी सीधी सादी पोशाकमें। इतनी सीधी सादीमें जितनीसे आज कलकत्तेमें फिरते हैं। वह ऐसा तुमतराक और ठाठ-बाठका समय था कि स्वयं श्रीमान् वैसरायको पतलून तक कारचोबीकी पहनना और राजा महाराजोंको काठकी तथा ड्यूक आफ कनाटको चांदीकी कुरसीपर बिठाकर स्वयं सोनेके सिंहासनपर बैठना पड़ा था। उस मौकेपर बड़ौदा नरेशका इतनी सफाई और सादगीसे निकल जाना एक नई आन था। इसके सिवा उन्होंने झुकके सलाम नहीं किया था, बड़ी सादगीसे हाथ मिलाकर चल दिये थे। यह कई एक कसरें ऐसी हैं, जिनके मिटानेको फिर दरबार हो सकता है। फिर हाथियोंका जुलूस निकल सकता है।

इन लोगोंके विचारमें कलाम नहीं। पर समय कम है, काम बहुत होंगे। इसके सिवा कई राजा महाराजा पहले दरबारही में खर्चसे इतने दब चुके हैं कि श्रीमान् लार्ड कर्जनके बाद यदि दो वैसराय और आवें और पांच पांचकी जगह सात सात साल तक शासन करें, तब तक भी उनका सिर उठाना कठिन है। इससे दरबार या हाथियोंके जुलूसकी फिर आशा रखना व्यर्थ है। पर सुना है कि अबके विद्याका उद्धार श्रीमान् जरूर करेंगे। उपकारका बदला देना महत् पुरुषोंका काम है। विद्याने आपको धनी किया है, इससे आप विद्याको धनी किया चाहते हैं। इसीसे कंगालोंसे छीनकर आप धनियोंको

विद्या देना चाहते हैं। इससे विद्याका वह कष्ट मिट जावेगा जो उसे कंगालको धनी बनानेमें होता है। नींव पड़ चुकी है, नमूना कायम होनेमें देर नहीं। अब तक गरीब पढ़ते थे, इससे धनियोंकी निन्दा होती थी कि वह पढ़ते नहीं। अब गरीब न पढ़ सकेंगे, इससे धनी पढ़े न पढ़े उनकी निन्दा न होगी। इस तरह लार्ड कर्जनकी कृपा उन्हें बेपढ़े भी शिक्षित कर देगी।

और कई काम हैं, कई कमीशनोंके कामका फैसिला करना है, कितनीही मिशनोंकी कारवाईका नतीजा देखना है। काबुल है, काश्मीर है, काबुलमें रेल चल सकती है, काश्मीरमें अंग्रेजी बस्ती बस सकती है। चायके प्रचारकी भांति मोटरगाड़ीके प्रचारकी इस देश में बहुत जरूरत है। बंगदेशका पार्टीशन भी एक बहुत जरूरी काम है। सबसे जरूरी काम विक्टोरिया मिमोरियलहाल है। सन् 1858 ई. की घोषणा अब भारतवासियोंको अधिक स्मरण रखनेकी जरूरत न पड़ेगी। श्रीमान् स्मृतिमन्दिर बनवाकर स्वर्गीया महारानी विक्टोरियाका ऐसा स्मारक बनवा देंगे, जिसको देखतेही लोग जान जावेंगे कि महारानी वह थीं जिनका यह स्मारक है।

बहुत बातें हैं। सबको भारतवासी अपने छोटे दिमागोंमें नहीं ला सकते। कौन जानता है कि श्रीमान् लार्ड कर्जनके दिमागमें कैसे-कैसे आली खयाल भरे हुए हैं। आपने स्वयं फरमाया थी कि बहुत बातोंमें हिन्दुस्थानी अंग्रेजोंका मुकाबिला नहीं कर सकते। फिर लार्ड कर्जन तो इंग्लैंडके रत्न हैं। उनके दिमागकी बराबरी कर गुस्ताखी करनेकी यहांके लोगोंको यह बूढा भंगड़ कभी सलाह नहीं दे सकता। श्रीमान् कैसे आली दिमाग शासक हैं, यह बात उनके उन लगातार कई व्याख्यानोंसे टपकी पड़ती हैं, जो श्रीमान्ने विलायतमें दिये थे और जिनमें विलायतवासियों को यह समझानेकी चेष्टा की थी कि हिन्दुस्थान क्या वस्तु है? आपने साफ दिखा दिया था कि विलायतवासी यह नहीं समझ सकते कि हिन्दुस्थान क्या है। हिन्दुस्थानको श्रीमान् स्वयं ही समझे हैं। विलायतवाले समझते तो क्या समझते? विलायतमें उतना बड़ा हाथी कहां जिसपर वह चंवर छत्र लगाकर चढ़े थे? फिर कैसे समझा सकते कि वह किस उच्च श्रेणीके शासक हैं? यदि कोई ऐसा उपाय निकल सकता, जिससे वह एक बार भारतको विलायत तक खींच ले जा सकते तो विलायतवालोंको समझा सकते कि भारत क्या है और श्रीमान्-का शासन क्या? आश्चर्य नहीं, भविष्यमें ऐसा कुछ उपाय निकल आवे। क्योंकि विज्ञान अभी बहुत कुछ करेगा।

भारतवासी जरा भय न करें, उन्हें लार्ड कर्जनके शासनमें कुछ करना न पड़ेगा। आनन्दही आनन्द है। चैनसे भंग पियो और मौज उड़ाओ। नजीर खूब कह गया है -

कुंडीके नकारे पे खुतकेका लगा डंका।

नित भंग पीके प्यारे दिन रात बजा डंका।।

पर एक प्याला इस बूढ़े ब्राह्मणको देना भूल न जाना।

['भारतमित्र', 26 नवम्बर, 1904 ई]

वैसरायका कर्तव्य

माई माई लार्ड! आपने इस देशमें फिर पदार्पण किया, इससे यह भूमि कृतार्थ हुई। विद्वान बुद्धिमान और विचारशील पुरुषोंके चरण जिस भूमि पर पड़ते हैं, वह तीर्थ बन जाती है। आपमें उक्त तीन गुणोंके सिवा चौथा गुण राजशक्तिका है। अत: आपके श्रीचरण-स्पर्शसे भारतभूमि तीर्थसे भी कुछ बढ़कर बन गई। आप गत मंगलवारको फिरसे भारतके राजसिंहासन पर सम्राट्के प्रतिनिधि बनकर विराजमान हुए। भगवान आपका मंगल करे और इस पतित देशके मंगलकी इच्छा आपके हृदयमें उत्पन्न करे।

बम्बईमें पांव रखते ही आपने अपने मनकी कुछ बात कह डाली हैं। यद्यपि बम्बईकी म्यूनिसिपलिटीने वह बातें सुननेकी इच्छा अपने अभिनन्दनपत्रमें प्रकाशित नहीं की थी, तथापि आपने बेपूछेही कह डालीं। ठीक उसी प्रकार बिना बुलाये यह दीन भंगड़ ब्राह्मण शिवशम्भु शर्मा तीसरी बार अपना चिट्ठा लेकर आपकी सेवामें उपस्थित है। इसे भी प्रजाका प्रतिनिधि होनेका दावा है। इसीसे यह राजप्रतिनिधिके सम्मुख प्रजाका कच्चाचिट्ठा सुनाने आया है। आप सुनिये न सुनिये, यह सुनाकरही जावेगा।

अवश्यही इस देशकी प्रजाने इस दीन ब्राह्मणको अपनी सभामें बुलाकर कभी अपने प्रतिनिधि होनेका टीका नहीं किया और न कोई पट्टा लिख दिया है। आप जैसे बाजाब्ता राज-प्रतिनिधि हैं वैसा बाजाब्ता शिवशम्भु प्रजाका प्रतिनिधि नहीं है आपको सम्राट्ने बुलाकर अपना वैसराय फिरसे बनाया। विलायती गजटमें खबर निकली। वही खबर तार द्वारा भारतमें पहुंची। मार्गमें जगह जगह स्वागत हुआ। बम्बईमें स्वागत हुआ। कलकत्तेमें कई बार गजट हुआ। रेलसे उतरते और राजसिंहासनपर बैठते समय दो बार सलामीकी तोपें सर हुईं। कितनेही राजा, नवाब, बेगम आपके दर्शनार्थ बम्बई पहुंचे। बाजे बजते रहे, फौजें सलामी देती रहीं। ऐसी एक भी सनद प्रजा-प्रतिनिधि होनेकी शिवशम्भुके पास नहीं है। तथापि वह इस देशकी प्रजाका यहांके चिथड़ा-पोश कंगालोंका प्रतिनिधि होनेका दावा रखता है। क्योंकि उसने इस भूमिमें जन्म लिया है। उसका शरीर भारतकी मट्टीसे बना है और उसी मट्टीमें अपने शरीरकी मट्टीको एक दिन मिला देनेका इरादा रखता है। बचपनमें इसी देशकी धूलमें लोटकर बड़ा हुआ, इसी भूमिके अन्न-जलसे उसकी प्राणरक्षा होती है। इसी भूमिसे कुछ आनन्द हासिल करनेको उसे भंगकी चन्द पत्तियां मिल जाती

है। गांवमें उसका कोई झोंपड़ा नहीं है। जंगलमें खेत नहीं है। एक पत्तीपर भी उसका अधिकार नहीं है। पर इस भूमिको छोड़कर उसका संसार में कहीं ठिकाना भी नहीं है। इस भूमिपर उसका जरा स्वत्व न होनेपर भी इसे वह अपनी समझता है।

शिवशम्भुको कोई नहीं जानता। जो जानते हैं, वह संसार में एकदम अनजान हैं। उन्हें कोई जानकर भी जानना नहीं चाहता। जाननेकी चीज शिवशम्भुके पास कुछ नहीं है। उसके कोई उपाधि नहीं, राजदरबारमें उसकी पूछ नहीं। हाकिमोंसे हाथ मिलानेकी उसकी हैसियत नहीं, उनकी हांमें हां मिलानेकी उसे ताब नहीं। वह एक कपर्दक-शून्य घमण्डी ब्राह्मण है। हे राजप्रतिनिधि। क्या उसकी दो चार बातें सुनियेगा?

आपने बम्बईमें कहा है कि भारतभूमिको मैं किस्सा-कहानीकी भूमि नहीं, कर्तव्यभूमि समझता हूं। उसी कर्तव्यके पालनके लिये आपको ऐसे कठिन समयमें भी दूसरी बार भारतमें आना पड़ा। माई माई लार्ड! इस कर्तव्यभूमिको हमलोग कर्मभूमि कहते है। आप कर्तव्य-पालन करने आये हैं और हम कर्मो का भोग भोगने। आपके कर्तव्य-पालनकी अवधि है, हमारे कर्मभोगकी अवधि नहीं। आप कर्तव्य-पालन करके कुछ दिन पीछे चले जावेंगे। हमें कर्मके भोग भोगते-भोगते यहीं समाप्त होना होगा और न जाने फिर भी कबतक वह भोग समाप्त होगा। जब थोड़े दिनके लिए आपका इस भूमिसे स्नेह है तो हमलोगोंका कितना भारी स्नेह होना चाहिए, यह अनुमान कीजिये। क्योंकि हमारा इस भूमिसे जीने-मरनेका साथ है।

माई लार्ड! यद्यपि आपको इस बातका बड़ा अभिमान है कि अंग्रेजोंमें आपकी भांति भारतवर्षके विषयमें शासननीति समझने-वाला और शासन करनेवाला नहीं है। यह बात विलायतमें भी आपने कई बार हेर-फेर लगाकर कही और इस बार बम्बईमें उतरतेही फिर कही। आप इस देश में रहकर 72 महीने तक जिन बातोंकी नीव डालते रहे, अब उन्हें 24 मास या उससे कममें पूरा कर जाना चाहते है। सरहदों पर फौलादी दीवार बनादेना चाहते हैं, जिससे इस देशकी भूमिको कोई बाहरी शत्रु उठाकर अपने घरमें न लेजावे। अथवा जो शान्ति आपके कथनानुसार धीरे-धीरे यहां संचित हुई है, उसे इतना पक्का कर देना चाहते हैं कि आपके बाद जो वैसराय आपके राजसिंहासनपर बैठे उसे शौकीनी और खेल-तमाशेके सिवा दिनमें और नाच, बाल या निद्राके सिवा रातको कुछ करना न पड़ेगा। पर सच जानिये कि आपने इस देशको कुछ नहीं समझा, खाली समझनेकी शेखीमें रहे और आशा नहीं कि इन अगले कई महीनोंमें भी कुछ समझें। किन्तु इस देशने आपको खूब समझ लिया और अधिक समझनेकी जरूरत नहीं रही। यद्यपि आप कहते हैं, कि यह कहानीका देश नहीं कर्तव्यका देश है, तथापि यहांकी प्रजाने समझ लिया है कि आपका कर्तव्यही कहानी है। एक बड़ा सुन्दर मेल हुआ था, अर्थात आप बड़े घमण्डी शासक हैं और यहांकी प्रजाके लोग भी बड़े भारी घमण्डी। पर

कठिनाई इसी बात की है कि दोनोंका घमण्ड दो तरहका है। आपको जिन बातोंका घमण्ड है, उनपर यहांके लोग हँस पड़ते हैं। यहांके लोगोंको जो घमण्ड है, उसे आप समझते नहीं और शायद समझेंगे भी नहीं।

जिन आडम्बरोंको करके आप अपने मनमें बहुत प्रसन्न होते हैं या यह समझ बैठते हैं कि बड़ा कर्तव्य-पालन किया, वह इस देशकी प्रजाकी दृष्टिमें कुछ भी नहीं है। वह इतने आडम्बर देख सुन चुकी और कल्पना कर चुकी है कि और किसी आडम्बरका असर उस पर नहीं हो सकता। आप सरहदको लोहेकी दीवारसे मजबूत करते हैं। यहांकी प्रजाने पढ़ा है कि एक राजाने पृथिवीको काबूमें करके स्वर्गमें सीढ़ी लगानी चाही थी। आप और लार्ड किचनर मिलकर जो फौलादी दीवार बनाते हैं, उससे बहुत मजबूत एक दीवार लार्ड केनिंग बना गये थे। आपने भी बम्बईकी स्पीचमें केनिंगका नाम लिया है। आज 46 साल हो गये, वह दीवार अटल अचल खड़ी हुई है। वह स्वर्गीया महाराणीका घोषणापत्र है, जो 1 नवम्बर 1858 ई. को केनिंग महोदयने सुनाया था। वही भारतवर्षके लिये फौलादी दीवार है। वही दीवार भारतकी रक्षा करती है। उसी दीवारको भारतवासी अपना रक्षक समझते हैं। उस दीवारके होते आपके या लार्ड किचनरके कोई दीवार बनानेकी जरूरत नहीं है। उसकी आड़में आप जो चाहे जितनी मजबूत दीवारों की कल्पना कर सकते हैं। आडम्बरसे इस देशका शासन नहीं हो सकता। आडम्बरका आदर इस देशकी कंगाल प्रजा नहीं कर सकती। आपने अपनी समझमें बहुत-कुछ किया, पर फल यह हुआ कि विलायत जाकर वह सब अपनेही मुंहसे सुनाना पड़ा। कारण यह कि करनेसे कहीं अधिक कहनेका आपका स्वभाव है। इससे आपका करना भी कहे बिना प्रकाशित नहीं होता। यहांकी अधिक प्रजा ऐसी है जो अबतक भी नहीं जानती कि आप यहांके वैसराय और राजप्रतिनिधि हैं और आप एक बार विलायत जाकर फिरसे भारतमें आये हैं। आपने गरीब प्रजाकी ओर न कभी दृष्टि खोलकर देखा, न गरीबोंने आपको जाना। अब भी आपकी बोतोंसे आपकी वह चेष्टा नहीं पायी जाती। इससे स्मरण रहे कि जब अपने पदको त्यागकर आप फिर स्वदेश में जावेंगे तो चाहे आपको अपने कितनेही गुण कीर्तन करनेका अवसर मिले, यह तो कभी न कह सकेंगे कि कभी भारतकी प्रजाका मन भी अपने हाथमें किया था।

यह वह देश है, जहांकी प्रजा एक दिन पहले रामचन्द्रके राजतिलक पानेके आनन्दमें मस्त थी और अगले दिन अचानक रामचन्द्र बनको चले तो रोती रोती उनके पीछे जाती थी। भरतको उस प्रजाका मन प्रसन्न करनेके लिये कोई भारी दरबार नहीं करना पड़ा, हाथियोंका जुलूस नहीं निकलना पड़ा, बरंच दौड़कर बनमें जाना पड़ा और रामचन्द्रको फिर अयोध्यामें लानेका यत्न करना पड़ा। जब वह न आये तो उनकी खड़ाऊंको सिरपर धरकर अयोध्या तक आये और खड़ाउओंको राजसिंहासन पर रखकर स्वयं चौदह सालतक वल्कल धारण करके उनकी सेवा करते रहे। तब प्रजाने समझा कि भरत अयोध्याका शासन करनेके योग्य है।

माई लार्ड! आप वत्कृता देनेमें बड़े दक्ष हैं। पर यहां वत्कृता कुछ और ही वजन है। सत्यवादी युधिष्ठिरके मुखसे जो निकल जाता था, वही होता था। आयु भरमें उसने एक बार बहुत भारी पोलिटिकल जरूरत पड़ने से कुछ सहजसा झूठ बोलनेकी चेष्टाकी थी। वही बात महाभारतमें लिखी हुई है। जब तक महाभारत है, वह बात भी रहेगी। एक बार अपनी वत्कृताओंसे इस विषयको मिलाइये और फिर विचारिये कि इस देशकी प्रजाके साथ आप किस प्रकार अपना कर्तव्यपालन करेंगे। साथ ही इस समय इस अधेड़ भंगड़ ब्राह्मणको अपनी भांग बूटीकी फिकर करनेके लिये आज्ञा दीजिये।

['भारतमित्र', 17 सितम्बर, 1904 ई.]

पीछे मत फेंकिये

माई लार्ड! सौ साल पूरे होनेमें अभी कई महीनोंकी कसर है। उस समय ईष्ट इण्डिया कम्पनीने लार्ड कार्नवालिसको दूसरी बार इस देशका गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा था। तबसे अब तक आपहीको भारतवर्षका फिरसे शासक बनकर आनेका अवसर मिला है। सौ वर्ष पहलेके उस समयकी ओर एक बार दृष्टि कीजिये। तबमें और अबमें कितना अन्तर हो गया है, क्यासे क्या हो गया है? जागता हुआ रंक अति चिन्ताका मारा सोजावे और स्वप्नमें अपनेको राजा देखे, द्वारपर हाथी झूमते देखे अथवा अलिफलैलाके अबुलहसनकी भांति कोई तरल युवक प्याले पर प्याला उड़ाता घरमें बेहोश हो और जागनेपर आंखें मलते-मलते अपनेको बगदादका खलीफा देखे, आलीशान सजे महलकी शोभा उसे चक्करमें डाल दे, सुन्दरी दासियोंके जेवर और कामदार वस्त्रोंकी चमक उसकी आंखोंमें चकाचौंध लगा दे तथा सुन्दर बाजों और गीतोंकी मधुरध्वनि उसके कानोंमें अमृत ढालने लगे, तब भी उसे शायद आश्चर्य न हो जितना सौ साल पहलेकी भारतमें अंगरेजी राज्यकी दशाको आजकलकी दशाके साथ मिलानेसे हो सकता है।

जुलाई सन् 1805 ई. में लार्ड कार्नवालिस दूसरी बार भारतके गवर्नर जनरल होकर कलकत्तेमें पधारे थे। उस समय ईष्ट इण्डिया कम्पनीकी सरकारपर चारों ओरसे चिन्ताओंकी भरमार हो रही थी, आशंकाएं उसे दम नहीं लेने देती थीं। हुलकरसे एक नई लड़ाई होनेकी थी, सेन्धियासे लड़ाई चलती थीं। खजानेमें बरकतही बरकत थीं। जमीनका कर वसूल होनेमें बहुत देर थी। युद्धस्थलमें लड़नेवाली सेनाओंको पांच पांच महीनेसे तनखाह नहीं मिली थी। विलायतके धनियोंमें कम्पनीका कुछ विश्वास न था। सत्तर सालका बूढ़ा गवर्नर जनरल यह सब बातें देखकर घबराया हुआ था। उससे केवल यही बन पड़ा कि दूसरी बार पदारूढ़ होनेके तीनही मास पीछे गाजीपुरमें जाकर प्राण देदिया। कई दिन तक इस बातकी खबर भी लोगोंने नहीं जानी। आज विलायतसे भारत तक दिनमें कई बार तार दौड़ जाता है। कई एक घंटोंमें शिमलेसे कलकत्ते तक स्पेशल ट्रेन पार हो जाती है। उस समय कलकत्तेसे गाजीपुर तक जाने में बड़ेलाटको कितनेही दिन लगे थे। गाजीपुरमें उनके लिये कलकत्तेसे जल्द किसी प्रकारकी सहायता पहुंचनेका कुछ उपाय न था।

किन्तु अब कुछ औरही समय है। माई लार्ड! लार्ड कार्नवालिसके दूसरी बार गवर्नर जनरल होकर भारतमें आने और आपके दूसरी बार आनेमें बड़ा अन्तर है। प्रताप आपके साथ साथ है। अंग्रेजी राज्यके भाग्यका सूर्य मध्यान्हमें है। उस समयके बड़ेलाटको जितने दिन कलकत्तेसे गाजीपुर जानेमें लगे होंगे, आप उनसे कम दिनोंमें विलायतसे भारतमें पहुंच गये। लार्ड कार्नवालिसको आतेही दो एक देशी रईसोंके साथ लड़ाई करनेकी चिन्ता थी, आपके स्वागतके लिये कोड़ियों राजा, रईस बम्बई दौड़े गये और जहाजसे उतरतेही उन्होंने आपका स्वागत करके अपने भाग्यको धन्य समझा। कितनेही बधाई देने कलकत्ते पहुंचे और कितने और चलेआरहे हैं। प्रजाकी चाहे कैसीही दशा हो, पर खजानेमें रुपये उबले पड़ते हैं। इसके लिये चारों ओरसे आपकी बड़ाई होती है। साख इस समयकी गवर्नमेण्टकी इतनी है कि विलायतमें या भारतमें एक बार 'हूं' करतेही रुपयेकी वर्षा होने लगती है। विलायती मन्त्री आपकी मुट्ठीमें हैं। विलायतकी जिस कन्सरवेटिव गवर्नमेण्टने आपको इस देशका वैसराय किया, वह अभी तक बराबर शासनकी मालिक है। लिबरल निर्जीव हैं। जान ब्राइट, ग्लाडष्टोन, ब्राडला, जैसे लोगोंसे विलायत शून्य है, इससे आप परम स्वतन्त्र हैं। इण्डिया आफिस आपके हाथकी पुतली है। विलायतके प्रधानमन्त्री आपके प्रियमित्र हैं। जो कुछ आपको करना है, वह विलायतमें कई मास रहकर पहलेही वहांके शासकोंसे निश्चय कर चुके हैं। अभी आपकी चढ़ती उमर है। चिन्ता कुछ नहीं है। जो कुछ चिन्ता थी, वह भी जल्द मिट गई। स्वयं आपकी विलायतके बड़े भारी बुद्धिमानों और राजनीति-विशारदोंमें गिनती है, वरंच कह सकते हैं कि विलायतके मन्त्री लोग आपके मुंहकी ओर ताकते हैं। सम्राट्का आप पर बहुत भारी विश्वास है। विलायतके प्रधान समाचारपत्र मानो आपके बन्दीजन हैं। बीच-बीचमें आपका गुणग्राम सुनाना पुण्यकार्य समझते हैं। सारांश यह कि लार्ड कार्नवालिसके समय और आपके समयमें बड़ाही भेद होगया है।

संसारमें अब अंग्रेजी प्रताप अखण्ड है। भारतके राजा अब आपके हुक्मके बन्द हैं। उनको लेकर चाहे जुलूस निकालिये, चाहे दरबार बनाकर सलाम कराइये, उन्हें चाहे विलायत भिजवाइये, चाहे कलकत्ते बुलवाइये, जो चाहे सो कीजिये, वह हाजिर हैं। आपके हुक्मकी तेजी तिब्बतके पहाड़ोंकी बरफको पिघलाती है, फारिसकी खाड़ीका जल सुखाती है, काबुलके पहाड़ोंको नर्म करती है। जल, स्थल, वायु, और आकाशमण्डलमें सर्वत्र आपकी विजय है। इस धराधाममें अब अंग्रेजी प्रतापके आगे कोई उंगुली उठानेवाला नहीं है। इस देशमें एक महाप्रतापी राजाके प्रतापका वर्णन इस प्रकार किया जाता था कि इन्द्र उसके यहां जल भरता था, पवन उसके यहां चक्की चलाता था, चांद सूरज उसके यहां रोशनी करते थे, इत्यादि। पर अंग्रेजी प्रताप उससे भी बढ़ गया है। समुद्र अंग्रेजी राज्यका मल्लाह है, पहाड़ोंकी उपत्यकाएं बैठनेके लिए कुर्सी मूढे। बिजली कलें चलानेवाली दासी और हजारों मील खबर लेकर उड़नेवाली दूती, इत्यादि इत्यादि।

आश्चर्य है माई लार्ड! एक सौ सालमें अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजी प्रतापकी तो इतनी उन्नति हो पर उसी प्रतापी बृटिश राज्यके अधीन रहकर भारत अपनी रही सही हैसियत भी खो दे। इस अपार उन्नतिके समयमें आप जैसे शासकके जीमें भारतवासियोंको आगे बढ़ानेकी जगह पीछे धकेलनेकी इच्छा उत्पन्न हो। उनका हौंसला बढ़ानेकी जगह उनकी हिम्मत तोड़नेमें आप अपनी बुद्धिका अपव्यय करें। जिस जातिसे पुरानी कोई जाति इस धराधाम पर मौजूद नहीं, जो हजार सालसे अधिककी घोर परधीनता सहकर भी लुप्त नहीं हुई, जीती है, जिसकी पुरानी सभ्यता और विद्याकी आलोचना करके विद्वान् और बुद्धिमान लोग आज भी मुग्ध होते हैं जिसने सदियों इस पृथिवीपर अखण्ड-शासन करके सभ्यता और मनुष्यत्वका प्रचार किया, वह जाति क्या पीछे हटाने और धूलमें मिला देनेके योग्य है? आप जैसे उच्च श्रेणीके विद्वान्-के जीमें यह बात कैसे समाई कि भारतवासी बहुत-से काम करनेके योग्य नहीं और उनको आपके सजातीयही कर सकते हैं? आप परीक्षाकरके देखिये कि भारतवासी सचमुच उन ऊंचेसे ऊंचे कामों को कर सकते हैं या नहीं, जिनको आपके सजातीय कर सकते हैं। श्रममें, बुद्धिमें, विद्यामें, काममें, वक्तृतामें, सहिष्णुतामें, किसी बातमें इस देशके निवासी संसारमें किसी जातिके आदमियोंसे पीछे रहनेवाले नहीं हैं। वरंच दो एक गुण भारतवासियोंमें ऐसे हैं कि संसार भरमें किसी जातिके लोग उनका अनुकरण नहीं कर सकते। हिन्दुस्थानी फारसी पढ़के ठीक फारिसवालोंकी भांति बोल सकते हैं, कविता कर सकते हैं। अंग्रेजी बोलनेमें वह अंग्रेजोंकी पूरी नकल कर सकते हैं, कण्ठ तालूको अंग्रेजोंके सदृश बना सकते हैं। पर एक भी अंग्रेज ऐसा नहीं है, जो हिन्दुस्थानियोंकी भांति साफ हिन्दी बोल सकता हो। किसी बातमें हिन्दुस्थानी पीछे रहनेवाले नहीं हैं। हां दो बातोंमें वह अंग्रेजोंकी नकल या बराबरी नहीं कर सकते हैं। एक तो अपने शरीरके काले रंगको अंग्रेजोंकी भांति गोरा नहीं बना सकते और दूसरे अपने भाग्यको उनके भाग्यमें रगड़कर बराबर नहीं कर सकते।

किन्तु इस संसारके आरम्भमें बड़ा भारी पार्थक्य होने पर भी अन्तमें बड़ी भारी एकता है। समय अन्तमें सबको अपने मार्ग पर ले आता है। देशपति राजा और भिक्षा माँगकर पेट भरनेवाले कंगालका परिणाम एकही होता है। मट्टी मट्टीमें मिल जाती है और यह जीतेजी लुभानेवाली दुनिया यहीं रह जाती है। कितनेही शासक और कितनेही नरेश इस पृथिवी पर होगये, आज उनका कहीं पता निशान नहीं है। थोड़े थोड़े दिन अपनी अपनी नौबत बजा गये चले गये। बड़ी तलाशसे इतिहासके पन्नों अथवा टूटे फूटे खण्डहरोंमें उनके दो चार चिह्न मिल जाते हैं। माई लार्ड! बीते हुए समयको फिर लौटा लेनेकी शक्ति किसीमें नहीं है, आपमें भी नहीं है। दूरकी बात दूर रहे, इन पिछले सौ सालहीमें कितने बड़े लाट आये और चले गये। क्या उनका समय फिर लौट सकता है? कदापि नहीं। विचारिये तो मानो कल आप आये थे, किन्तु छः साल बीत गये। अब दूसरी बार आनेके बाद भी कितनेही दिन बीत गये तथा बीत जाते हैं। इसी प्रकार उमरें बीत जावेंगी, युग बीत जावेंगे। समयके महासमुद्रमें मनुष्यकी आयु एक छोटी-सी बूँदकी भी बराबरी नहीं कर सकती। आपमें शक्ति नहीं है कि पिछले छः वर्षों को लौटा सकें या उनमें जो कुछ हुआ है उसे अन्यथा कर सकें। दो साल आपके हाथमें अवश्य हैं। इनमें जो चाहें कर सकते हैं। चाहें तो इस देश की 30 करोड़ प्रजाको अपनी

अनुरक्त बना सकते हैं और इस देशके इतिहासमें अच्छे वैसरायोंमें अपना नाम छोड़ जा सकते हैं। नहीं तो यह समय भी बीत जावेगा और फिर आपका करने धरनेका अधिकारही कुछ न रहेगा।

विक्रम, अशोक अकबरके यह भूमि साथ नहीं गई। औरंगजेब, अलाउद्दीन इसे मुट्ठीमें दबा कर नहीं रख सके। महमूद, तैमूर और नादिर, इसे लूटके मालके साथ ऊंटों और हाथियोंपर लाद कर न ले जासके। आगे भी यह किसीके साथ न जावेगी, चाहे कोई कितनीही मजबूती क्यों न करे। इस समय भगवानसे इसे एक औरही जातिके हाथमें अर्पण किया है, जिसकी बुद्धि विद्या और प्रतापका संसार भरमें डंका बज रहा है। माई लार्ड! उसी जातिकी ओरसे आप इस देशकी 30 करोड़ प्रजाके शासक हैं।

अब यह विचारना आपही के जिम्मे है कि इस देशकी प्रजाके साथ आपका क्या कर्तव्य है। हजार सालसे यह प्रजा गिरी दशामें है। क्या आप चाहते हैं कि यह और भी सौ पचास साल गिरती चली जावे? इसके गिरानेमें बड़ेसे बड़ा इतनाही लाभ है कि कुछ संकीर्णहृदय शासकोंकी यथेच्छाचारिता कुछ दिन और चल सकती है। किन्तु इसके उठाने और सम्हालनेमें जो लाभ हैं, उनकी तुलना नहीं हो सकती है। इतिहासमें सदा नाम रहेगा कि अंग्रेजोंने एक गिरी जातिके तीस करोड़ आदयियोंको उठाया था। माई लार्ड! दोनोंमे जो बात पसन्द हो, वह कर सकते हैं। कहिये क्या पसन्द है? पीछे हटाना या आगे बढ़ाना?

['भारतमित्र', 17 दिसम्बर,1904 ई.]

आशाका अन्त

माई लार्ड! अबके आपके भाषणने नशा किरकिरा कर दिया। संसारके सब दुःखों और समस्त चिन्ताओंको जो शिवशम्भु शर्मा दो चुल्लू बूटी पीकर भुला देता था, आज उसका उस प्यारी विजयापर भी मन नहीं है। आशासे बँधा हुआ यह संसार चलता है। रोगीको रोगसे कैदीको कैदसे, ऋणीको ऋणसे कंगालको दरिद्रतासे, - इसी प्रकार हरेक क्लेशित पुरुषको एक दिन अपने क्लेशसे मुक्त होनेकी आशा होती है। चाहे उसे इस जीवनमें क्लेशसे मुक्ति न मिले, पर आशाके सहारे इतना होता है कि वह धीरे-धीरे अपने क्लेशोंको झेलता हुआ एक दिन इस क्लेशमय जीवनसे तो मुक्त हो जाता है। पर हाय। जब उसकी यह आशा भी भंग हो जाय, उस समय उसके कष्टका क्या ठिकाना! -

"किस्मत पे उस मुसाफिरे खस्ताके रोइये।

जो थक गया हो बैठके मंजिलके सामने।"

बड़े लाट होकर आपके भारतमें पदार्पण करनेके समय इस देशके लोग श्रीमान्-से जो जो आशाएं करते और सुखस्वप्न देखते थे, वह सब उड़नछू हो गये। इस कलकत्ता महानगरीके समाचारपत्र कुछ दिन चौंक चौंक पड़ते थे कि आज बड़े लाट अमुक मोड़पर वेश बदले एक गरीब काले आदमीसे बातें कर रहे थे, परसों अमुक आफिसमें जाकर कामकी चक्कीमें पिसते हुए क्लर्कोंकी दशा देख रहे थे और उनसे कितनीही बातें पूछते जाते थे। इससे हिन्दू समझने लगे कि फिरसे विक्रमादित्यका आविर्भाव हुआ या अकबरका अमल होगया। मुसलमान खयाल करने लगे, खलीफा हारूंरशीदका जमाना आगया। पारसियोंने आपको नौशीरवाँ समझनेकी मोहलत पाई थी या नहीं, ठीक नहीं कहा जासकता। क्योंकि श्रीमान्-ने जल्द अपने कामोंसे ऐसे जल्दबाज लोगोंको कष्ट-कल्पना करनेके कष्टसे मुक्त कर दिया था। वह लोग थोड़ेही दिनोंमें इस बातके समझनेके योग्य होगये थे कि हमारा प्रधान शासक न विक्रमके रंग-ढंगका है, न हारूं या अकबरके, उसका रंगही निराला है। किसीसे नहीं मिलता।

माई लार्ड! इस देशकी दो चीजोंमें अजब तासीर है। एक यहांके जलवायुकी और दूसरे यहांके नमककीं, जो उसी जलवायुसे उत्पन्न होता है। नीरससे नीरस शरीरमें यहांका जलवायु नमकीनी ला देता है। मजा यह कि उसे उस नमकीनीकी खबर तक नहीं होती। एक फारिसका कवि कहता है कि हिन्दुस्थानमें एक हरी पत्ती तक बेनमक नहीं है, मानो यह देश नमकसे सींचा गया है। किन्तु शिवशम्भु शर्माका विचार इस कविसे भी कुछ आगे है। वह समझता है कि यह देश नमककी एक महाखानि है, इसमें जो पड़ गया, वही नमक बन गया। श्रीमान् कभी चाहें तो सांभर-झीलके तटपर खड़े होकर देख सकते हैं, जो कुछ उसमें गिर जाता, वही नमक बन जाता है। यहांके जलवायुसे अलग खड़े होकर कितनोंहीने बड़ी-बड़ी अटकलें लगाई और लम्बे चौड़े मनसूबे बांधे पर यहांके जलवायुका असर होतेही वह सब काफूर हो गये।

अफसोस माई लार्ड! यहांके जलवायुकी तासीरने आपमें अपनी पिछली दशाके स्मरण रखनेकी शक्ति नहीं रहने दी। नहीं तो अपनी छः साल पहलेकी दशासे अबकी दशाका मिलान करके चकित होते। घबराके कहते कि ऐं! मैं क्या हो गया? क्या मैं वही हूं, जो विलायतसे भारतकी ओर चलनेसे पहले था? बम्बईमें जहाजसे उतरकर भूमिपर पांव रखतेही यहांके जलवायुका प्रभाव आपपर आरम्भ होगया था। उसके प्रथम फलस्वरुप कलकत्तेमें पदार्पण करतेही आपने यहांके म्यूनिसिपल कारपोरेशनकी स्वाधीनताकी समाप्ति की। जब वह प्रभाव कुछ और बढ़ा तो अकाल पीड़ितोंकी सहायता करते समय आपकी समझमें आने लगा कि इस देशके कितनेही अभागे सचमुच अभागे नहीं, वरंच अच्छी मजदूरीके लालचसे जबरदस्ती अकालपीड़ितोंमें मिलकर दयालु सरकारको हैरान करते हैं। इससे मजदूरी कड़ी की गई।

इसी प्रकार जब प्रभाव तेज हुआ तो आपने अकालकी तरफसे आंखोंपर पट्टी बांधकर दिल्ली-दरबार किया।

अन्तको गत वर्ष आपने यह भी साफ कह दिया कि बहुतसे पद ऐसे हैं जिनको पैदाइशी तौरसे अंग्रेजही पानेके योग्य हैं। भारतवासियोंकी सरकार जो देती है, वह भी उनकी हैसियतसे बढ़कर है। तब इस देशके लोगोंने सभक लिया था कि अब श्रीमान्-पर यहांके जलवायुका पूरा सिक्का जम गया। उसी समय आपको स्वदेशदर्शनकी लालसा हुई। लोग समझते चलो अच्छा हुआ, जो हो चुका, वह हो चुका, आगेकी तासीरकी अधिक उन्नतिसे पीछा छूटा। किन्तु आप कुछ न समझे। कोरियामें जब श्रीमान्-की आयु अचानक सात साल बढ़कर चालीस होगई, उस समय भी श्रीमान्-की समझमें आ गया था कि वहीं की सुन्दर आवहवाके प्रतापसे आप चालीस सालके होनेपर भी बत्तीस तेंतीसके दिखाई देते हैं। पर इस देशकी आवहवाकी तासीर आपके कुछ समझमें न आई। वह विलायतमें भी श्रीमान्-के साथ लगी गई और जबतक वहां रहे, अपना जोर दिखाती रही। यहां तक कि फिर आपको एक बार इस देशमें उठा लाई, किसी विघ्न वाधाकी परवा न की।

माई लार्ड! इस देशका नमक यहांके जलवायुका साथ देता है, क्योंकि उसी जलवायुसे उसका जन्म है। उसकी तासीर भी साथ साथ होती रही। वह पहले विचार-बुद्धि खोता है। पीछे दया और सहृदयताको भगाता है और उदारताको हजम कर जाता है। अन्तको आंखोंपर पट्टी बांधकर, कानोंमें ठीठे ठोककर, नाकमें नकेल डालकर, आदमीको जिधर तिधर घसीटे फिरता है और उसके मुंहसे खुल्लम खुल्ला इस देशकी निन्दा कराता है। आदमीके मनमें वह यही जमा देता है कि जहांका खाना वहांकी खूब निन्दा करना और अपनी शेखी मारते जाना। हम लोग उस नमककी तासीरसे बेअसर नहीं हैं। पर हमारी हड्डियां उसीसे बनी हैं, इस कारण हमें इतना ज्ञान रहता है कि हमारे देशके नमककी क्या तासीर है। हमलोग खूब जानते थे कि यदि श्रीमान् कहीं दूसरी बार भारतमें आगये तो एक दम नमककी खानिमें जाकर नमक हो जावेंगे। इसीसे चाहते थे कि दोबारा आप न आवें। पर हमारी पेश न गई। आप आये और आतेही उस नमककी तासीरका फल अपने कौंसिल और कानवोकेशनमें प्रगट कर डाला।

इतने दिन आप सरकारी भेदोंके जाननेसे, अच्छे पद पानेसे, उन्नतिकी बातें सोचनेसे, सुगमतासे शिक्षा लाभ करनेसे, अपने स्वत्वोंके लिये पार्लीमेण्ट आदिमें पुकारनेसे, इस देशके लोगोंको रोकते रहे। आपकी शक्तिमें जो कुछ था, वह करते रहे। पर उसपर भी सन्तोष न हुआ, भगवानकी शक्तिपर भी हाथ चलाने लगे। जो सत्यप्रियता इस देशको सृष्टिके आदिसे मिली है, जिस देशका ईश्वर "सत्यंज्ञानमनन्तम्ब्रह्म" है, वहांके लोगोंको सभामें बुलाके ज्ञानी और विद्वान्-का चोला पहनकर उनके मुंहपर झूठा और मक्कार कहने लगे। विचारिये तो यह कैसे अधःपतन की बात है?

जिस स्वदेशको श्रीमान्-ने आदर्श सत्यका देश और वहांके लोगोंको सत्यवादी कहा है, उसका आला नमूना क्या श्रीमान् ही हैं? यदि सचमुच विलायत वैसाही देश हो, जैसा आप फरमाते हैं और भारत भी आपके कथनानुसार मिथ्यावादी और धूर्त देश हो, तोभी तो क्या कोई इस प्रकार कहता है? गिराके ठोकर मारना क्या सज्जन और सत्यवादीका काम है? अपनी सत्यवादिता प्रकाश करने के लिये दूसरे को मिथ्यावादी कहनाही क्या सत्यवादिताका सबूत है?

माई माई लार्ड! जब आपने अपने शासक होनेके विचारको भूलकर इस देशकी प्रजाके हृदयमें चोट पहुंचाई है तो दो एक बातें पूछ लेनेमें शायद कुछ गुस्ताखी न होगी। सुनिये, विजित और विजेतामें बड़ा अन्तर है। जो भारतवर्ष हजार सालसे विदेशीय विजेताओंके पांवोंमें लोट रहा है, क्या उसकी प्रजाकी सत्यप्रियता विजेता इंगलेण्डके लोगोंकी सत्यप्रियताका मुकाबिला कर सकती है। यह देश भी यदि विलायतकी भांति स्वाधीन होता और यहांके लोगही यहांके राजा होते तब यदि अपने देशके लोगों को यहांके लोगोंसे अधिक सच्चा साबित कर सकते तो आपकी अवश्य कुछ बहादुरी होती। स्मरण करिये, उन दिनोंको कि जब अंग्रेजोंके देशपर विदेशियोंका अधिकार था। उस समय आपके स्वदेशियोंकी नैतिक दशा कैसी थी, उसका विचार तो कीजिये। यह वह देश है कि हजार साल पराये पांवके नीचे रहकर भी एकदम सत्यतासे च्युत नहीं हुआ है। यदि आपका युरोप या इंगलेण्ड दस साल भी पराधीन हो जाते तो आपको मालूम पड़े कि श्रीमान्-के स्वदेशीय कैसे सत्यवादी और नीति-परायण हैं। जो देश कर्मवादी है, वह क्या कभी असत्यवादीहो सकता है? आपके स्वदेशीय यहां बड़ी-बड़ी इमारतेंमें रहते हैं, जैसी रुचि हो, वैसे पदार्थ भोग सकते हैं। भारत आपके लिये भोग्यभूमि है। किन्तु इस देशके लाखों आदमी, इसी देशमें पैदा होकर आवारा कुत्तोंकी भांति भटक -भटककर मरते हैं। उनको दो हाथ भूमि बैठनेको नहीं, पेट भरकर खानेको नहीं, मैले चिथड़े पहनकर उमरें बिता देते हैं और एक दिन कहीं पड़कर चुप-चाप प्राण दे देते हैं। हालकी इस सर्दीमें कितनोंहीके प्राण जहां-तहां निकल गये। इस प्रकार क्लेश पाकर मरनेपर भी क्या कभी वह लोग यह करते हैं कि पापी राजा है, इससे हमारी यह दुगाति है? माई लार्ड! वह कर्मवादी हैं, वह यही समझते हैं कि किसीका कुछ दोष नहीं है - सब हमारे पूर्व कर्मोका दोष है। हाय। हाय। ऐसी प्रजाको आप धूर्त कहे हैं।

कभी इस देशमें आकर आपने गरीबोंकी ओर ध्यान न दिया। कभी यहांकी दीन भूखी प्रजाकी दशाका विचार न किया। कभी दस मीठे शब्द सुनाकर यहांके लोगोंको उत्साहित नहीं किया - फिर विचारिये तो गालियां यहांके लोगोंको आपने किस कृपाके बदले में दीं? पराधीनताकी सबके जीमें बड़ी भारी चोट होती है। पर महारानी विक्टोरियाके सदय बरतावने यहांके लोगोंके जीसे वह दुःख भुला दिया था। इस देशके लोग सदा उनको माता तुल्य समझते रहे, अब उनके पुत्र महाराज एडवर्डपर भी इस देशके लोगोंकी वैसीही भक्ति है। किन्तु आप उन्हीं सम्राट् एडवर्डके प्रतिनिधि होकर इस देशकी प्रजाके अत्यन्त अप्रिय बने हैं। यह इस देशके बड़ेही दुर्भाग्यकी बात है। माई माई लार्ड! इस देशकी

प्रजाको आप नहीं चाहते और वह प्रजा आपको नहीं चाहती, फिर भी आप इस देशके शासक हैं और एक बार नहीं दूसरी बार शासक हुए हैं, यही विचार विचारकर इस अधबूढे भंगड़ ब्राह्मणका नशा किरकिरा हो-हो जाता है।

['भारतमित्र', 25 फरवरी, 1905 ई.]

एक दुराशा

नारंगीके रसमें जाफरानी वसन्ती बूटी छानकर शिवशम्भु शर्मा खटिया पर पड़े मौजोंका आनन्द ले रहे थे। खयाली घोड़ेकी बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकन्दें भर रहा था। हाथ-पावोंको भी स्वाधीनता दी गई थी। वह खटियाके तूल अरजकी सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्माजीका शरीर खटियापर था और खयाल दूसरी दुनियामें।

अचानक एक सुरीली गानेकी आवाजने चौंका दिया। कन-रसिया शिवशम्भु खटियापर उठ बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कानोंमें यह मधुर गीत बार-बार अमृत ढालने लगा -

चलो-चलो आज, खेलें होली कन्हैया घर।

कमरेसे निकल कर बरामदेमें खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ौसमें किसी अमीरके यहां गाने-बजानेकी महफिल हो रही है। कोई सुरीली लयसे उक्त होली गा रहा है। साथही देखा बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसन्तमें सावन देखकर अकल जरा चक्करमें पड़ी। विचारने लगे कि गानेवालेको मलार गाना चाहिये था, न कि होली। साथही खयाल आया कि फागुन सुदी है, वसन्तके विकाशका समय है, वह होली क्यों न गावे? इसमें तो गानेवालेकी नहीं, विधिकी भूल है, जिसने वसन्तमें सावन बना दिया है। कहां तो चान्दनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती, कोयलकी कूक सुनाई देती। कहां भादोंकी-सी अन्धियारी है, वर्षाकी झड़ी लगी हुई है। ओह। कैसा ऋतु विपर्यय है।

इस विचारको छोड़कर गीतके अर्थका विचार जीमें आया। होली खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैयाके घर होली खेलेंगे। कन्हैया कौन? ब्रजके राजकुमार और खेलनेवाले कौन? उनकी प्रजा - ग्वालबाल। इस विचारने शिवशम्भु शर्माको और भी चौंका दिया कि ऐं! क्या भारतमें ऐसा समय भी था, जब प्रजाके लोग राजाके घर जाकर होली खेलते

थे और राजा-प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे। क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजाके आनन्दको किसी समय अपना आनन्द समझते थे? अच्छा यदि आज शिवशंभु शर्मा अपने मित्रवर्ग सहित अबीर गुलालकी झोलियां, भूरेरंगकी चिकारियां लिये अपने राजाके घर होली खेलने जाये तो कहां जाये? राजा दूर सात समुद्र पार है। राजाका केवल नाम सुना है। न राजाको शिवशंभुने देखा, न राजाने शिवशंभुको। खैर राजा नहीं, उसने अपना प्रतिनिधि भारतमें भेजा है, कृष्ण द्वारिकामें हैं, पर उध्वको प्रतिनिधि बनाकर ब्रजवासियोंको सन्तोष देनेके लिए ब्रजमें भेजा है। क्या उस राजा-प्रतिनिधिके घर जाकर शिवशंभु होली नहीं खेल सकता?

ओफ। यह विचार वैसा ही बेतुका है, जैसे अभी वर्षामें होली गाई जाती थी। पर इसमें गानेवालेका क्या दोष है? वह तो समय समझकर ही गा रहा था। यदि वसन्तमें वर्षाकी झाड़ी लगे तो गानेवालोंको क्या मलार गाना चाहिये? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण है, उध्व है, पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। राजा है, राजप्रतिनिधि है, पर प्रजाकी उन तक रसाई नहीं। सूर्य है, धूप नहीं। चन्द्र है, चान्दनी नही। माई लार्ड नगरहीमें है, पर शिवशम्भु उसके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उसके घर चलकर होली खेलना तो विचारही दूसरा है। माई लार्डके घर तक प्रजाकी बात नहीं पहुंच सकती, बातकी हवा नहीं पहुंच सकती। जहांगीरकी भांति उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घण्टा नहीं लगाया, जिसकी जञ्जीर बाहरसे हिलाकर प्रजा अपनी फरयाद उसे सुना सके। न आगेको लगानेकी आशा है। प्रजाकी बोली वह नहीं समझता, उसकी बोली प्रजा नहीं समझती। प्रजाके मनका भाव वह न समझता है, न समझना चाहता है। उसके मनका भाव न प्रजा समझ सकती है, न समझनेका कोई उपाय है। उसका दर्शन दुर्लभ है। द्वितीयाके चन्द्रकी भांति कभी-कभी बहुत देर तक नजर गड़ानेसे उसका चन्द्रानन दिख जाता है, तो दिखजाता है। लोग उंगलियोंसे इशारे करते हैं कि वह है। किन्तु दूजके चान्दके उदयका भी एक समय है। लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्डके मुखचन्द्रके उदयके लिये कोई समय भी नियत नहीं। अच्छा, जिस प्रकार इस देशके निवासी माई लार्डका चन्द्रानन देखनेको टकटकी लगाये रहते हैं, या जैसे शिवशम्भु शर्माके जीमें अपने देशके माई लार्डसे होली खेलनेकी आई इस प्रकार कभी माई लार्डको भी इस देशके लोगोंकी सुध आती होगी? क्या कभी श्रीमान्-का जी होता होगा कि अपनी प्रजामें जिसके दण्ड-मुण्डके विधाता होकर आये हैं किसी एक आदमीसे मिलकर उसके मनकी बात पूछें या कुछ आमोद-प्रमोदकी बातें करके उसके मनको टटोलें? माई लार्डको ड्यूटीका ध्यान दिलाना सूर्यको दीपक दिखाना है। वह स्वयं श्रीमुखसे कह चुके हैं कि ड्यूटीमें बँधा हुआ मैं इस देशमें फिर आया। यह देश मुझे बहुतही प्यारा है। इससे ड्यूटी और प्यारकी बात श्रीमान्-के कथनसेही तय हो जाती है। उसमें किसी प्रकारकी हुज्जत उठानेकी जरूरत नहीं। तथापि यह प्रश्न आपसे आप जीमें उठता है कि इस देशकी प्रजासे प्रजाके माई लार्डका निकट होना और प्रजाके लोगोंकी बात जानना भी उस ड्यूटीकी सीमा तक पहुंचता है या नही? यदि पहुंचता है तो क्या श्रीमान् बता सकते हैं कि अपने छः सालके लम्बे शासनमें इस देशकी प्रजाको क्या जाना और उससे क्या सम्बन्ध उत्पन्न किया? जो पहरेदार सिरपर फेंटा बांधे हाथमें संगीनदार बन्दूक लिये काठके पुतलोंकी भांति गवर्नमेण्ट हौसके द्वार पर

दण्डायमान रहते हैं, या छायाकी मूर्तिकी भांति जरा इधर-उधर हिलते जुलते दिखाई देते हैं, कभी उनको भूले भटके आपने पूछा है कि कैसी गुजरती है? किसी काले प्यादे चपरासी या खानसामा आदिसे कभी आपने पूछा कि कैसे रहते हो? तुम्हारे देशकी क्या चाल-ढाल है? तुम्हारे देशके लोग हमारे राज्यको कैसा समझते हैं? क्या इन नीचे दरजेके नौकर-चाकरोंको कभी माई लार्डके श्रीमुखसे निकले हुए अमृत रूपी वचनोंके सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ या खाली पेड़ों पर बैठी चिड़ियोंका शब्दही उनके कानों तक पहुंचकर रह गया? क्या कभी सैर तमाशेमें टहलनेके समय या किसी एकान्त स्थानमें इस देशके किसी आदमीसे कुछ बातें करनेका अवसर मिला? अथवा इन देशके प्रतिष्ठित बेगरज आदमीको अपने घरपर बुलाकर इस देशके लोगोंके सच्चे विचार जाननेकी चेष्टा की? अथवा कभी विदेश या रियासतोंके दौर में उनलोगोंके सिवा जो झुकझुक कर लम्बी सलामें करने आये हों, किसी सच्चे और बेपरवा आदमीसे कुछ पूछने या कहनेका कष्ट किया? सुनते हैं कि कलकत्तेमें श्रीमान्-ने कोना कोना देख डाला। भारतमें क्या भीतर और क्या सीमाओंपर कोई जगह देखे बिना नहीं छोड़ी। बहुतोंका ऐसाही विचार था। पर कलकत्ता यूनिवर्सिटीके परीक्षोत्तीर्ण छात्रोंकी सभामें चैंसलरका जामा पहनकर माई लार्डने जो अभिज्ञता प्रगट की, उससे स्पष्ट हो गया कि जिन आंखोंसे श्रीमान्-ने देखा, उनमें इस देशकी बातें ठीक देखनेकी शक्ति न थी।

सारे भारतकी बात जाय, इस कलकत्तेहीमें देखनेकी इतनी बातें हैं कि केवल उनको भली भांति देख लेनेसे भारतवर्षकी बहुतसी बातोंका ज्ञान होसकता है। माई लार्डके शासनके छः साल हालवेलके स्मारकमें लाठ बननाने, ब्लैक-हालका पता लगाने, अख्तरलोनीकी लाठको मैदानसे उठवाकर वहां विक्टोरिया मिमोरियल-हाल बनवाने, गवर्नमेण्टहौसके आसपास अच्छी रोशनी, अच्छे फुटपाथ और अच्छी सड़कोंका प्रबन्ध करानेमें बीत गये। दूसरा दौर भी वैसेही कामोंमे बीत रहा है। सम्भव है कि उसमें भी श्रीमान्-के दिलपसन्द अंग्रेजी मुहल्लोंमें कुछ और भी बड़ी-बड़ी सड़कें निकल जायें और गवर्नमेण्टहौसकी तरफके स्वर्गकी सीमा और बढ़ जावे। पर नगर जैसा अन्धेरेमें था, वैसाही रहा, क्योंकि उसकी असली दशा देखनेके लिये औरही प्रकारकी आंखोंकी जरूरत है। जब तक वह आंखें न होंगी, यह अंधेर योंही चला जावेगा। यदि किसी दिन शिवशम्भु शर्माके साथ माई लार्ड नगरकी दशा देखने चलते तो वह देखते कि इस महानगरकी लाखों प्रजा भेड़ों और सुअरोंकी भांति सड़े-गन्दे झोपड़ोंमें पड़ी लोटती है। उनके आस पास सड़ी बदबू और मैले सड़े पानीके नाले बहते हैं, कीचड़ और कूड़ेके ढेर चारों ओर लगे हुए हैं। उनके शरीरोंपर मैले-कुचैले फटे-चिथड़े लिपटे हुए हैं। उनमेंसे बहुतोंकी आजीवन पेट भर अन्न और शरीर ढाकनेको कपड़ा नहीं मिलता। जाड़ोंमें सर्दीसे अकड़ कर रह जाते हैं और गर्मीमें सड़कों पर घुमते तथा जहां तहां पड़ते फिरते हैं। बरसातमें सड़े सीले घरोंमें भींगे पड़े रहते हैं। सारांश यह कि हरेक ऋतुकी तीब्रतामें सबसे आगे मृत्युके पथका वही अनुगमन करते हैं। मौतही एक है, जो उनकी दशा पर दया करके जल्द-जल्द उन्हें जीवन रूपी रोगके कष्टसे छुड़ाती है।

परन्तु क्या इनसे भी बढ़ कर और दृश्य नहीं है? हां हैं, पर जरा और स्थिरतासे देखनेके हैं। बालूमें बिखरी हुई चीनीको

हाथी अपने सूंडसे नहीं उठा सकता, उसके लिये चिंवटीकी जिह्वा दरकार है। इसी कलकत्तेमें इसी इमारतोंके नगरमें माई लार्डकी प्रजामें हजारों आदमी ऐसे हैं। जिनको रहनेको सड़ा झोपड़ा भी नहीं है। गलियों और सड़कों पर घूमते-घूमते जहां जगह देखते हैं, वहीं पड़ रहते हैं। पहरेवाला आकर डण्डा लगाता है तो सरक कर दूसरी जगह जा पड़ते हैं। बीमार होते हैं तो सड़कोंही पर पड़े पांव पीटकर मर जाते हैं। कभी आग जलाकर खुले मैदानमें पड़े रहते हैं। कभी-कभी हलवाइयोंकी भट्टियोंसे चमट कर रात काट देते हैं। नित्य इनकी दो चार लाशें जहां तहांसे पड़ी हुई पुलिस उठाती है। भला माई लार्ड तक उनकी बात कौन पहुंचावे? दिल्ली दरबारमें भी जहां सारे भारतका वैभव एकत्र था, सैकड़ों ऐसे लोग दिल्लीकी सड़कोंपर पड़े दिखाई देते थे, परन्तु उनकी ओर देखनेवाला कोई न था। यदि माई लार्ड एक बार इन लोगोंको देख पाते तो पूछनेको जगह हो जाती कि वह लोग भी बृटिश राज्यके सिटिजन हैं वा नहीं? यदि हैं तो कृपा पूर्वक पता लगाइये कि उनके रहनेके स्थान कहां हैं और बृटिश राज्यसे उनका क्या नाता है? क्या कहकर वह अपने राजा और उसके प्रतिनिधिको सम्बोधन करें? किन शब्दोंमें बृटिश राज्यको असीस दें? क्या यों कहें कि जिस बृटिश राज्यमें हम अपनी जन्मभूमिमें एक उंगल भूमिके अधिकारी नहीं, जिसमें हमारे शरीरको फटे चिथड़े भी नहीं जुड़े और न कभी पापी पेटको पूरा अन्न मिला, उस राज्यकी जय हो। उसका राजप्रतिनिधि हाथियोंका जुलूस निकालकर सबसे बड़े हाथीपर चंवर छत्र लगा कर निकले और स्वदेशमें जाकर प्रजाके सुखी होनेका डंका बजावे?

इस देशमें करोड़ों प्रजा ऐसी है, जिसके लोग जब संध्या सवेरे किसी स्थान पर एकत्र होते हैं तो महाराज विक्रमकी चर्चा करते हैं और उन राजा महाराजोंकी गुणावली वर्णन करते हैं, जो प्रजाका दुःख मिटाने और उनके अभावोंका पता लगानेके लिये रातोंको देश बदलकर निकला करते थे। अकबरके प्रजापालनकी और बीरबलके लोकरञ्जनकी कहानियां कहकर वह जी बहलाते हैं और समझते हैं कि न्याय और सुखका समय बीत गया। अब वह राजा संसारमें उत्पन्न नहीं होते, जो प्रजाके सुख दुःखकी बातें उनके घरोंमें आकर पूछ जाते थे। महारानी विक्टोरियाको वह अवश्य जानते हैं कि वह महारानी थीं और अब उनके पुत्र उनकी जगह राजा और इस देशके प्रभु हुए है। उनको इस बातकी खबर तक भी नहीं कि उनके प्रभुके कोई प्रतिनिधि होते हैं और वही इस देशके शासनके मालिक होते हैं तथा कभी-कभी इस देशकी तीस करोड़ प्रजाका शासन करनेका घमण्ड भी करते हैं। अथवा मन चाहे तो इस देशके साथ बिना कोई अच्छा बरताव किये भी यहांके लोगोंको झूठा, मक्कार आदि कहकर अपनी बड़ाई करते हैं। इन सब विचारोंने इतनी बात तो शिवशम्भुके जामें भी पक्की करदी कि अब राजा प्रजाके मिलकर होली खेलनेका समय गया। जो बाकी था, वह काश्मीर-नरेश महाराज रणवीरसिंहके साथ समाप्त होगया। इस देशमें उस समयके फिर लौटनेकी जल्द आशा नहीं। इस देशकी प्रजाका अब वह भाग्य नहीं है। साथही किसी राजपुरुषका भी ऐसा सौभाग्य नहीं है, जो यहांकी प्रजाके अकिंचन प्रेमके प्राप्त करनेकी परवा करे। माई लार्ड अपने शासन-कालका सुन्दरसे सुन्दर सचित्र इतिहास स्वयं लिखवा सकते हैं, वह प्रजाके प्रेमकी क्या परवा करेंगे? तो भी इतना सन्देश भंगड़ शिवशम्भु शर्मा अपने प्रभु तक पहुंचा देना चाहता है कि आपके द्वार पर होली खेलनेकी आशा करनेवाले एक ब्राह्मणको कुछ नहीं तो

कभी-कभी पागल समझकरही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूंगी प्रजाका एक वकील है, जिसके शिक्षित होकर मुंह खोलने तक आप कुछ करना नहीं चाहते

बमुलाजिमाने सुलतां कै रसानद, ईं दुआरा?

कि बशुक्रे बादशाही जे नजर मरां गदारा।

['भारतमित्र',18 मार्च, 1905 ई.]

विदाई सम्भाषण

माई लार्ड! अन्तको आपके शासनकालका इस देशमें अन्त होगया। अब आप इस देशसे अलग होते हैं। इस संसारमें सब बातोंका अन्त है। इससे आपके शासनकालका भी अन्त होता, चाहे आपकी एक बारकी कल्पनाके अनुसार आप यहांके चिरस्थायी वैसराय भी होजाते। किन्तु इतनी जल्दी वह समय पूरा हो जायगा ऐसा विचार न आपहीका था, व इस देशके निवासियोंका। इससे जान पड़ता है कि आपके और यहांके निवासियोंके बीचमें कोई तीसरी शक्ति और भी है? जिसपर यहांवालोंका तो क्या आपका भी काबू नहीं है।

बिछड़न-समय बड़ा करुणोत्पादक होता है। आपको बिछड़ते देखकर आज हृदयमें बड़ा दुःख है। माई माई लार्ड! आपके दूसरी बार इस देशमें आनेसे भारतवासी किसी प्रकार प्रसन्न न थे। वह यही चाहते थे कि आप फिर न आवें। पर आप आये और उससे यहांके लोग बहुतही दुःखित हुए। वह दिन रात यही मनाते थे कि जल्द श्रीमान् यहां से पधारे। पर अहो। आज आपके जानेपर हर्षकी जगह विषाद होता है। इसीसे जाना कि बिछड़न-समय बड़ा करुणोत्पादक होता है। बड़ा पवित्र, बड़ा निर्मल और कोमल होता है। बैरभाव छूटकर शान्तरसका आविर्भाव उस समय होता है। माई लार्डका देश देखनेका इस दीन भंगड़ ब्राह्मणको कभी इस जन्ममें सौभाग्य नहीं हुआ। इससे नहीं जानता कि वहां बिछड़नेके समय लोगोंका क्या भाव होता है। पर इस देशके पशु-पक्षियोंको भी बिछड़नेके समय उदास देखा है। एक बार शिवशम्भुके दो गाय थीं। उनमें एक अधिक बलवाली थी। वह कभी-कभी अपने सींगोंकी टक्करसे दूसरी कमजोर गायको गिरा देती थी। एक दिन वह टक्कर मारनेवाली गाय पुरोहितको दे दी गई। देखा कि दुर्बल गाय उसके चले जानेसे प्रसन्न नहीं हुई, वरंच उस दिन वह भूखी खड़ी रही, चारा छुआ तक नहीं। माई माई लार्ड! जिस देशके पशुओंकी बिछड़ते समय यह दशा होती है, वहांके मनुष्योंकी कैसी दशा हो सकती है, इसका अन्दाजा लगाना कठिन नहीं है।

आगे भी इस देशमें जो प्रधान शासक आये अन्तमें उनको जाना पड़ा। इससे आपका जाना भी परम्पराकी चालसे कुछ अलग नहीं है, तथापि आपके शासनकालका नाटक घोर दुःखान्त है और अधिक आश्चर्यकी बात यह है कि दर्शक तो क्या स्वयं सूत्रधार भी नहीं जानता था कि उसने जो खेल सुखान्त समझकर खेलना आरम्भ किया था, वह दुःखान्त हो जावेगा। जिसके आदिमें सुख था, मध्यमें सीमासे बाहर सुख था, उसका अन्त ऐसे घोर दुःखके साथ कैसे हुआ। आह। घमण्डी खिलाड़ी समझता है कि दूसरोंको अपनी लीला दिखाता हूं, किन्तु परदेके पीछे एक औरही लीलामयकी लीला होरही है, यह उसे खबर नहीं।

इस बार बम्बईमें उतरकर, माई लार्ड! आपने जो जो इरादे जाहिर किये थे, जरा देखिये तो उनमेंसे कौन-कौन पूरे हुए। आपने कहा था कि यहांसे जाते समय भारतवर्षको ऐसा कर जाऊंगा कि मेरे बाद आनेवाले बड़ेलाटोंको वर्षो तक कुछ करना न पड़ेगा, वह कितनेही वर्षो सुखकी नींद सोते रहेंगे। किन्तु बात उल्टी हुई। आपको स्वयं इस बार बेचैनी उठानी पड़ी है और इस देशमें जैसी अशान्ति आप फैला चले हैं, उसके मिटानेमें आपके पदपर आनेवालोंको न जाने कबतक नींद और भूख हराम करनी पड़ेगी। इस बार आपने अपना बिस्तर गर्म राख पर रखा है और भारतवासियोंको गर्म तवे पर पानीकी बून्दोंकी भांति नचाया है। आप स्वयं भी सुखी न हो सके और यहांकी प्रजाको सुखी न होने दिया, इसका लोगोंके चित्त पर बड़ाही दुःख है।

विचारिये तो क्या शान आपकी इस देशमें थी और अब क्या हो गई। कितने ऊंचे होकर आप कितने नीचे गिरे। अलिफलैलाके अलहदीनने चिराग रगड़कर और अबुलहसनने बगदादके खलीफाकी गद्दी पर आंख खोलकर वह शान न देखी, जो दिल्लीदरबारमें आपने देखी। आपकी और आपकी लेडीकी कुरसी सोनेकी थी और आपके प्रभु महाराजके छोटे भाई और उनकी पत्नीकी चांदीकी। आप दहने थे वह बायें, आप प्रथम थे वह दूसरे। इस देशके सब राजा रईसोंने आपको सलाम पहले किया और बादशाहके भाईको पीछे। जुलूसमें आपका हाथी सबसे आगे और सबसे ऊंचा था, हौदा और चंवर छत्र आदि सामान सबसे बढ़-चढकर थे। सारांश यह कि ईश्वर और महाराज एडवर्डके बाद इस देशमें आपहीका दरजा था। किन्तु अब देखते हैं कि जंगीलाटके मुकाबिलेमें आपने पटखनी खाई, सिरके बल नीचे आ रहे। आपके स्वदेशमें वही ऊंचे माने गये, आपको साफ नीचा देखना पड़ा। पदत्यागकी धमकीसे भी ऊंचे न हो सके।

आप बहुत धीर गम्भीर प्रसिद्ध थे। उस सारी धीरता गम्भीरताका आपने इस बार कौन्सिलमें बेकानूनी कानून पास करते और कनवोकेशनमें वक्तृता देते समय दीवाला निकाल दिया। यह दीवाला तो इस देशमें हुआ। उधर विलायतमें आपके बारबार इस्तीफा देनेकी धमकीने प्रकाश कर दिया कि जड़ हिल गई है। अन्तमें वहां भी आपको दिवालिया

होना पड़ा और धीरता गम्भीरताके साथ दृढताको भी जलांजलि देनी पड़ी। इस देशके हाकिम आपकी ताल पर नाचते थे, राजा महाराजा डोरी हिलानेसे सामने हाथ बांधे हाजिर होते थे। आपके एक इशारेमें प्रलय होती थी। कितनेही राजोंको मट्टीके खिलौनेकी भांति आपने तोड़ फोड़ डाला। कितनेही मट्टी काठके खिलौने आपकी कृपाके जादूसे बड़े-बड़े पदाधिकारी बन गये। आपके एक इशारेमें इस देशकी शिक्षा पायमाल होगई, स्वाधीनता उड़ गई। बंगदेशके सिरपर आरा रखा गया। ओह इतने बड़े माई लार्डका यह दरजा हुआ कि एक फौजी अफसर उनके इच्छित पदपर नियत न होसका। और उनको इसी गुस्सेके मारे इस्तीफा दाखिल करना पड़ा, वह भी मंजूर हो गया। उनका रखाया एक आदमी नौकर न रखा गया, उल्टा उन्हींके निकल जानेका हुक्म मिला।

जिस प्रकार आपका बहुत ऊंचे चढ़कर गिरना यहांके निवासियोंको दुःखित कर रहा है, गिरकर पड़ा रहना उससे भी अधिक दुःखित करता है। आपका पद छूट गया, तथापि आपका पीछा नहीं छूटा है। एक अदना क्लर्क जिसे नौकरी छोड़ने के लिए एक महीनेका नोटिस मिल गया हो नोटिसकी अवधिको बड़ी घृणासे काटता है। आपको इस समय अपने पदपर रहना कहां तक पसन्द है, यह आपही जानते होंगे। अपनी दशापर आपको कैसी घृणा आती है, इस बातके जानलेनेका इस देशके वासियोंको अवसर नहीं मिला। पर पतनके पीछे इतनी उलझनमें पड़ते उन्होंने किसीको नहीं देखा।

माई लार्ड! एकबार अपने कामोंकी ओर ध्यान दीजिये। आप किस कामको आये थे और क्या कर चले? शासकका प्रजाके प्रति कुछ तो कर्तव्य होता है, यह बात आप निश्चय मानते होंगे। सो कृपा करके बतलाइये क्या कर्तव्य आप इस देशकी प्रजाके साथ पालन कर चले? क्या आंख बन्द करके मनमाने हुक्म चलाना और किसीकी कुछ न सुननेका नामही शासन है? क्या प्रजाकी बातपर कभी कान न देना और उसको दबाकर उसकी मर्जीके विरुद्ध जिद्दसे सब काम किये चले जानाही शासन कहलाता है? एक काम हो ऐसा बताइये, जिसमें आपने जिद्द छोड़कर प्रजाकी बातपर ध्यान दिया हो। कैसर और जार भी घेरने-घसोटनेसे प्रजाकी बात सुन लेते हैं, पर आप एक मौका तो ऐसा बताइये जिसमें किसी अनुरोध या प्रार्थना सुननेके लिए प्रजाके लोगोंको आपने अपने निकट फटकने दिया हो और उनकी बात सुनी हो। नादिरशाहने जब दिल्लीमें कतलेआम किया तो आसिफजाहके तलवार गलेमें डालकर प्रार्थना करनेपर उसने कतलेआम उसी दम रोक दिया। पर आठ करोड़ प्रजाके गिड़गिड़ाकर बंगविच्छेद न करनेकी प्रार्थना पर आपने जहा भी ध्यान नहीं दिया। इस समय आपकी शासन अवधि पूरी हो गई है, तथापि बंगविच्छेद किये बिना घर जाना आपको पसन्द नहीं है। नादिरसे भी बढ़कर आपकी जिद्द है। क्या आप समझते हैं कि आपकी जिद्दसे प्रजाके जीमें दुःख नहीं होता? आप विचारिये तो एक आदमीको आपके कहनेपर पद न देनेसे आप नौकरी छोड़े जाते हैं, इस देशकी प्रजाको भी यदि कहीं जानेकी जगह होती तो क्या वह नाराज होकर इस देशको छोड़ न जाती?

यहांकी प्रजाने आपकी जिद्दका फल यहीं देख लिया। उसने देखा लिया कि आपकी जिस जिद्दने इस देशकी प्रजाको पीड़ित किया, आपको भी उसने कम पीड़ा न दी, यहां तक कि आप स्वयं उसका शिकार हुए। यहांकी प्रजा वह प्रजा है, जो अपने दुःख और कष्टोंकी अपेक्षा परिणामका अधिक ध्यान रखती है। वह जानती है कि संसारमें सब चीजोंका अन्त है। दुःखका समय भी एक दिन निकल जावेगा। इसीसे सब दुःखोंको झेलकर पराधीनता सहकर भी वह जीती है। माई लार्ड! इस कृतज्ञताकी भूमिकी महिमा आपने कुछ न समझी और न यहांकी दीन प्रजाकी श्रद्धा भक्ति अपने साथ ले जा सके, इसका बड़ा दुःख है।

इस देशके शिक्षितोंको तो देखनेकी आपकी आंखोंको ताब नहीं। अनपढ़ गूंगी प्रजाका नाम कभी कभी आपके मुंहसे निकल जाया करता है। उसी अनपढ़ प्रजामें नर सुलतान नामके एक राजकुमारका गीत गाया जाता है। एक बार अपनी विपदके कई साल सुलतानने नरवरगढ़ नामके एक स्थानमें काटे थे। वहां चौकीदारीसे लेकर उसे एक ऊंचे पद तक काम करना पड़ा था। जिस दिन घोड़े पर सवार होकर वह उस नगर से विदा हुआ, नगरद्वारसे बाहर आकर उस नगरको जिस रीतिसे उसने अभिवादन किया था, वह सुनिये। उसने आंखोंमें आंसू भरकर कहा - "प्यारे नरवरगढ़। मेरा प्रणाम ले, आज मैं तुझसे जुदा होता हूं। तू मेरा अन्नदाता है। अपनी विपदके दिन मैंने तुझमें काटे हैं, तेरे ऋणका बदला मैं गरीब सिपाही नहीं दे सकता। भाई नरवरगढ़। यदि मैंने जान बूझकर एक दिन भी अपनी सेवामें चूक की हो, यहांकी प्रजाकी शुभचिन्ता न की हो, यहांकी स्त्रियोंको माता और बहनकी दृष्टि से न देखा हो तो मेरा प्रणाम न ले, नहीं तो प्रसन्न होकर एक बार मेरा प्रणाम ले और मुझे जानेकी आज्ञा दे।" माई माई लार्ड! जिस प्रजामें ऐसे राजकुमारका गीत गाया जाता है, उसके देशसे क्या आप भी चलते समय कुछ सम्भाषण करेंगे? क्या आप कह सकेंगे - "अभागे। मैंने तुझसे सब प्रकारका लाभ उठाया और तेरी बदौलत वह शान देखी जो इस जीवनमें असम्भव है, तूने मेरा कुछ नहीं बिगाड़ा, पर मैंने तेरे बिगाड़नेमें कुछ कमी न की। संसारके सबसे पुराने देश। जब तक मेरे हाथमें शक्ति थी, तेरी भलाईकी इच्छा मेरे जीमें न थी। अब कुछ शक्ति नहीं है, जो तेरे लिए कुछ कर सकूं, पर आशीर्वाद करता हूं कि तू फिर उठे और अपने प्राचीन गौरव और यशको फिरसे लाभ करे। मेरे बाद आनेवाले तेरे गौरवको समझें।" आप कर सकते हैं और यह देश आपकी पिछली सब बातें भूल सकता है, पर इतनी उदारता माई लार्डमें कहां?

['भारतमित्र', 2 सितम्बर, 1905 ई.]

बंग विच्छेद

गत 16 अक्टोबर को बंगविच्छेद या बंगालका पार्टीशन हो गया। पूर्व बंगाल और आसामका नया प्रान्त बनकर हमारे महाप्रभु माई लार्ड इंगलेण्डके महान राजप्रतिनिधिका तुगलकाबाद आबाद होगया। भंगड़ लोगोंके पिछले रगड़ेकी भांति यही माई लार्डकी सबसे पिछली प्यारी इच्छा थी। खूब अच्छी तरह भंग घुटकर तय्यार होजाने पर भंगड़

आनन्दसे उस पर एक और रगड़ लगाता है। भंगड़-जीवनमें उससे बढ़कर और कुछ आनन्द नहीं होता। माई लार्डके भारतशासन जीवनमें भी इससे अधिक आनन्दकी बात कदाचित् कोई न होगी, जिसे पूरी होते देखनेके लिए आप इस देशका सम्बन्ध-जाल छिन्न करडालने पर भी उससें अटके रहे।

माई लार्डको इस देशमें जो कुछ करना था, वह पूरा कर चुके थे। यहां तक कि अपने सब इरादोंको पूरा करते करते अपने शासनकालकी इतिश्री भी अपनेही करकमलसे कर चुके थे। जो कुछ करना बाकी था, वह यही बंगविच्छेद था। वह भी होगया। आप अपनी अन्तिम कीर्तिकी ध्वजा अपनेही हाथोंसे उड़ा चले और अपनी आंखोंको उसके प्रियदर्शनसे सुखी कर चले, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। अपने शासनकालकी रकाबीमें बहुतसी कड़वी कसैली चीजें चख जाने पर भी आप अपने लिये 'मधुरेण समापयेत्' कर चले यही गनीमत है।

अब कुछ करना रह भी गया हो तो उसके पूरा करनेकी शक्ति माई लार्डमें नहीं है। आपके हाथोंसे इस देशका जो बुरा भला होना था, वह हो चुका। एक ही तीर आपके तर्कशमें और बाकी था, उससे आप बंगभूमिका वक्षस्थल छेद चले। बस, यहां आकर आपकी शक्ति समाप्त हो गई। इस देशकी भलाईकी ओर तो आपने उस समय भी दृष्टि न की, जब कुछ भला करनेकी शक्ति आपमें थी। पर अब कुछ बुराई करनेकी शक्ति भी आपमें नहीं रही, इससे यहांके लोगोंको बहुत ढाढस मिली है। अब आप हमारा कुछ नहीं कर सकते।

आपके शासनकालमें बंगविच्छेद इस देशके लिए अन्तिम विषाद और आपके लिए अन्तिम हर्ष है। इस प्रकारके विषाद और हर्ष, इस पृथिवीके सबसे पुराने देशकी प्रजाने बारम्बार देखे हैं। महाभारतमें सबका संहार होजाने पर भी घायल पड़े हुए दुर्मद दुर्योधनको अश्वत्थामाकी यह वाणी सुनकर अपार हर्ष हुआ था कि मैं पांचों पाण्डवोंके सिर काटकर आपके पास लाया हूं। इसी प्रकार सेनासुधार रूपी महाभारतमें जंगीलाट किचनर रूपी भीमकी विजय-गदासे जर्जरित होकर पदच्युति-ह्रदमें पड़े इस देशके माई लार्डको इस खबरने बड़ा हर्ष पहुंचाया कि अपने हाथोंसे श्रीमान् को बंगविच्छेदका अवसर मिला। इसी महाहर्षको लेकर माई लार्ड इस देशसे विदा होते हैं, यह बड़े सन्तोषकी बात है। अपनोंसे लड़कर श्रीमान्-की इज्जत गई या श्रीमान्-ही गये, उसका कुछ ख्याल नहीं है, भारतीय प्रजाके सामने आपकी इज्जत बनी रही, यही बड़ी बात है। इसके सहारे स्वदेश तक श्रीमान् मोछों पर ताव देते चले जासकते हैं।

श्रीमान्-के खयालके शासक इस देशने कई बार देखे हैं। पांच सौसे अधिक वर्ष हुए तुगलक वंशके एक बादशाहने दिल्लीको उजाड़ कर दौलताबाद बसाया था। पहले उसने दिल्लीकी प्रजाको हुक्म दिया कि दौलताबादमें जाकर बसो।

जब प्रजा बड़े कष्टसे दिल्लीको छोड़कर वहां जाकर बसी तो उसे फिर दिल्लीको लौट आनेका हुक्म दिया। इस प्रकार दो तीन बार प्रजाको दिल्लीसे देवगिरि और देवगिरिसे दिल्ली अर्थात श्रीमान् मुहम्मद तुगलकके दौलताबाद और अपने वतनके बीचमें चकराना और तबाह होना पड़ा। हमारे इस समयके माई लार्डने केवल इतनाही किया है कि बंगाल के कुछ जिले आसाममें मिलाकर एक नया प्रान्त बना दिया है। कलकत्तेकी प्रजाको कलकत्ता छोड़कर चटगांवमें आबाद होनेका हुक्म तो नहीं दिया। जो प्रजा तुगलक जैसे शासकों का खयाल बरदाश्त कर गई, वह क्या आजकलके माई लार्डके एक खयालको बरदाश्त नहीं कर सकती है?

सब ज्योंका त्यों है। बंगदेशकी भूमि जहां थी वहीं है और उसका हरएक नगर और गांव जहां था वहीं है। कलकत्ता उठाकर चीरापूँजीके पहाड़ पर नहीं रख दिया गया और शिलांग उड़कर हुगलीके पुलपर नहीं आबैठा। पूर्व और पश्चिम बंगाल बीचमें कोई नहर नहीं खुद गयी और दोनोंको अलग अलग करने के लिये बीचमें कोई चीनकीसी दीवार नहीं बन गई है। पूर्व बंगाल, पश्चिम बंगालसे अलग होजाने पर भी अंग्रेजी शासनहीमें बना हुआ है और पश्चिम बंगाल भी पहलेकी भांति उसी शासनमें है। किसी बातमें कुछ फर्क नहीं पड़ा। खाली खयाली लड़ाई है। बंगविच्छेद करके माई लार्डने अपना एक खयाल पूरा किया है। इस्तीफा देकर भी एक खयालही पूरा किया और इस्तीफा मंजूर होजाने पर इस देशमें पड़े रहकर भी श्रीमान्-का प्रिन्स आफ वेल्सके स्वागत तक ठहरना एक खयाल मात्र है।

कितनेही खयाली इस देशमें अपना खयाल पूरा करके चले गये। दो सवादो सौ साल पहले एक शासकने इस बंगदेशमें एक रुपयेके आठ मन धान बिकवाकर कहा था कि जो इससे सस्ता धान इस देशमें बिकवाकर इस देशके धनधान्य-पूर्ण होनेका परिचय देगा, उसको मैं अपनेसे अच्छा शासक समझूँगा। वह शासक भी नहीं है, उसका समय भी नहीं है। कई एक शताब्दियोंके भीतर इस भूमिने कितनेही रंग पलटे हैं, कितने ही इसकी सीमाएं हो चुकी हैं। कितनेही नगर इसकी राजधानी बनकर उजड़ गये। गौड़के जिन खण्डहरोंमें अब उल्लू बोलते और गीदड़ चिल्लाते हैं, वहां कभी बांके महल खड़े थे और वहीं बंगदेशका शासक रहता था। मुर्शिदाबाद जो आज एक लुटाहुआसा शहर दिखाई देता है, कुछ दिन पहले इसी बंगदेशकी राजधानी था और उसकी चहल-पहलका कुछ ठिकाना न था। जहां घसियारे घास खोदा करते थे, वहां आज कलकत्ता जैसा महानगर बसा हुआ है, जिसके जोड़का एशियामें एकआध नगरही निकल सकता है। अब माई लार्डके बंगविच्छेदसे ढाका, शिलांग और चटगांवमेंसे हरेक राजधानीका सेहरा बंधवानेके लिये सिर आगे बढ़ाता है। कौन जाने इनमेंसे किसके नसीबमें क्या लिखा है और भविष्य क्या क्या दिखायेगा।

दो हजार वर्ष नहीं हुए इस देशका एक शासक कह गया है -

"सैकड़ों राजा जिसे अपनी-अपनी समझकर चले गये, परन्तु वह किसीके भी साथ नहीं गई, ऐसी पृथिवीके पानेसे क्या राजाओंको अभिमान करना चाहिये? अब तो लोग इसके अंशके अंशको पाकर भी अपनेको भूपति मानते हैं। ओहो। जिसपर पश्चाताप करना चाहिये उसके लिये मूर्ख उल्टा आनन्द करते है।" वही राजा और कहता है - "यह पृथिवी मट्टीका एक छोटा-सा ढेला है जो चारों तरफसे समुद्ररूपी पानीकी रेखासे घिरा हुआ है। राजा लोग आपसमें लड़भिड़कर इस छोटेसे ढेलेके छोटे-छोटे अंशों पर अपना अधिकार जमाकर राज्य करते हैं। ऐसे क्षुद्र और दरिद्री राजाओंको लोग दानी कहकर जांचने जाते हैं। ऐसे नीचोंसे धनकी आशा करनेवाले अधम पुरुषोंको धिक्कार है।" यह वह शासक था कि इस देश का चक्रवर्ती अधीश्वर होनेपर भी एक दिन राजपाटको लात मारकर जंगलों और बनोंमें चला गया था। आज वही भारत एक ऐसे शासकका शासनकाल देख रहा है जो यहांका अधीश्वर नहीं है, कुछ नियत समयके लिये उसके हाथमें यहांका शासनभार दिया गया था, तो भी इतना मोहमें डूबा हुआ है कि स्वयं इस देशको त्यागकर भी इसे कुछ दिन और न त्यागनेका लोभ संवरण न कर सका।

यह बंगविच्छेद बंगका विच्छेद नहीं है। बंगनिवासी इससे विच्छिन्न नहीं हुए, वरंच और युक्त हो गये। जिन्होंने गत 16 अक्टोबरका दृश्य देखा है, वह समझ सकते हैं कि बंगदेश या भारतवर्षमें नहीं, पृथिवी भरमें वह अपूर्व दृश्य था। आर्य सन्तान उस दिन अपने प्राचीन वेशमें विचरण करती थी। बंगभूमि ऋषि-मुनियोंके समयकी आर्यभूमि बनी हुई थी। किसी अपूर्व शक्तिने उसको उस दिन एक राखीसे बांध दिया था। बहुत कालके पश्चात भारत सन्तानको होश हुआ कि भारतकी मट्टी वन्दनाके योग्य है। इसीसे वह एक स्वरसे "बन्दे मातरम्" कहकर चिल्ला उठे। बंगालके टुकड़े नहीं हुए, वरंच भारतके अन्यान्य टुकड़े भी बंगदेशसे आकर चिमटे जाते हैं।

हां, एक बड़ेही पवित्र मेलको हमारे माई लार्ड विच्छिन्न किये जाते हैं। वह इस देशके राजा प्रजाका मेल है। स्वर्गीया विक्टोरिया महारानीके घोषणापत्र और शासनकालने इस देशकी प्रजाके जीमें यह बात जमादी थी कि अंग्रेज, प्रजाकी बात सुनकर और उसका मन रखकर शासन करना जानते हैं और वह रंगके नहीं, योग्यता के पक्षपाती हैं। केनिंग और रिपन आदि उदारहृदय शासकोंने अपने सुशासनसे इस भावकी पुष्टि की थी। इस समयके महाप्रभु ने दिखा दिया कि वह पवित्र घोषणापत्र समय पड़ेकी चाल मात्र था। अंग्रेज अपने खयालके सामने किसीकी नहीं सुनते। विशेषकर दुर्बल भारतवासियोंकी चिल्लाहटका उनके जीमें कुछ भी वजन नहीं है। इससे आठ करोड़ बंगालियोंके एक स्वर होकर दिन रात महीनों रोने-गानेपर भी अंग्रेजी सरकारने कुछ न सुना। बंगालके दो टुकड़े कर डाले। उसी माई लार्डके हाथसे दो टुकड़े कराये, जिसके कहनेसे उसने केवल एक मिलिटरी मेम्बर रखना भी मंजूर नहीं किया और उसके लिये माई लार्डको नौकरीसे अलग करना भी पसन्द किया। भारतवासियोंके जीमें यह बात जम गई कि अंग्रेजोंसे भक्तिभाव करना वृथा है, प्रार्थना करना वृथा है और उनके आगे रोना गाना वृथा है। दुर्बलकी वह नहीं सुनते।

बंगविच्छेदसे हमारे महाप्रभु सरदस्त राजा प्रजामें यही भाव उत्पन्न करा चले हैं। किन्तु हाय। इस समय इसपर महाप्रभुके देशमें कोई ध्यान देनेवाला तक नहीं है, महाप्रभु तो ध्यान देनेके योग्यही कहां?

['भारतमित्र', 21 अक्तूबर, 1905 ई.]

लार्ड मिन्टोका स्वागत

भगवान करे श्रीमान् इस विनयसे प्रसन्न हों - मैं इस भारत देशकी मट्टीसे उत्पन्न होनेवाला, इसका अन्न फल मूल आदि खाकर प्राण-धारण करनेवाला, मिल जाय तो कुछ भोजन करनेवाला, नहीं तो उपवास कर जानेवाला, यदि कभी कुछ भंग प्राप्त होजाय तो उसे पीकर प्रसन्न होनेवाला, जवानी बिताकर बुढ़ापेकी ओर फुर्तीसे कदम बढ़ानेवाला और एक दिन प्राणविसर्जन करके इस मातृभूमिकी वन्दनीय मट्टीमें मिलकर चिर शान्तिलाभ करनेकी आशा रखनेवाला शिवशम्भु शर्मा इस देशकी प्रजाका अभिनन्दनपत्र लेके श्रीमान्-की सेवामें उपस्थित हुआ हूं। इस देशकी प्रजा श्रीमान्-का हृदयसे स्वागत करती है। आप उसके राजाके प्रतिनिधि होकर आये हैं। पांच साल तक इस देशकी 30 करोड़ प्रजाके रक्षण, पालन और शासनका भार राजाने आपको सौंपा। इससे यहांकी प्रजा आपको राजाके तुल्य मानकर आपका स्वागत करती है और आपके इस महान् पदपर प्रतिष्ठित होनेके लिये हर्ष प्रकाश करती है।

भाग्यसे आप इस देशकी प्रजाके शासक हुए हैं। अर्थात यहांकी प्रजाकी इच्छासे आप यहांके शासक नियत नहीं हुए। न यहांकी प्रजा उस समयतक आपके विषयमें कुछ जानती थी, जबकि उसने श्रीमान्-के इस नियोगकी खबर सुनी। किसीको श्रीमान्-की ओरका कुछ भी गुमान न था। आपके नियोग की खबर इस देशमें बिना मेघकी वर्षाकी भांति अचानक आ गिरी। अब भी यहांकी प्रजा श्रीमान्-के विषयमें कुछ नहीं समझी है, तथापि उसे आपके नियोगसे हर्ष हुआ। आपको पाकर वह वैसीही प्रसन्न हुई है, जैसे डूबता थाह पाकर प्रसन्न होता है। उसने सोचा है कि आपतक पहुंच जानेसे उसकी सब विपदोंकी इति हो जायेगी।

भाग्यवानोंसे कुछ न कुछ सम्बन्ध निकाल लेना संसारकी चाल है। जो लोग श्रीमान् तक पहुंच सके हैं, उन्होंने श्रीमान्-से भी एक गहरा सम्बन्ध निकाल लिया है। वह लोग कहते हैं कि सौ साल पहले आपके बड़ोंमेंसे एक महानुभाव यहांका शासन कर गये हैं, इससे भारतका शासक होना आपके लिये कोई नई बात नहीं है। वह लोग साथही यह भी कहते हैं कि सौ साल पहलेवाले लार्ड मिन्टो बड़े प्रजापालक थे। प्रजाको प्रसन्न रखकर शासन करना चाहते थे। यह कहकर वह श्रीमान्-से भी अच्छे शासन और प्रजा-रञ्जनकी आशा जनाते हैं। पर यह सम्बन्ध बहुत दूरका है। सौ साल पहलेकी बातका कितना प्रभाव हो सकता है, नहीं कहा जा सकता। उस समयकी प्रजामेंसे एक आदमी जीवित नहीं, जो कुछ उस समयकी आंखो देखी कह सके। फिर यह भी कुछ निश्चय नहीं कि श्रीमान् अपने उस बड़ेके शासनके विषयमें वैसाही विचार रखते हों, जैसा यहांके लोग कहते हैं। यह भी निश्चय नहीं कि श्रीमान्-को सौ साल पहलेकी शासननीति पसन्द होगी या नहीं तथा उसका कैसा प्रभाव श्रीमान्-के चित्तपर है। हां, एक प्रभाव देखा कि श्रीमान्-के

पूर्ववर्ती शासकने अपनेसे सौ साल पहलेके शासककी बात स्मरण करके उस समयकी पोशाक में गवर्नमेन्ट हौसके भीतर एक नाच, नाच डाला था।

सारांश यह है कि लोग जिस ढंग से श्रीमान्-की बड़ाई करते हैं वह एक प्रकारकी शिष्टाचारकी रीति पूरी कर रहे हैं। आपकी असली बड़ाईका मौका अभी नहीं आया, पर वह मौका आपके हाथमें विलक्षण रूपसे है। श्रीमान् इस देशमें अभी यदि अज्ञातकुल नहीं तो अज्ञातशील अवश्य हैं। यहांके कुछ लोगोंकी समझमें आपके पूर्ववर्ती शासकने प्रजाको बहुत सताया है और वह उसके हाथसे बहुत तंग हुई। वह समझते हैं कि आप उन पीड़ाओंको दूरकर देंगे, जो आपका पूर्ववर्ती शासक यहां फैला गया है। इसीसे वह दौड़कर आपके द्वारपर जाते हैं। यह कदापि न समझिये कि आपके किसी गुणपर मोहित होकर जाते हैं। वह जैसे आंखोंपर पट्टी बांधे जाते हैं, वैसेही चले आते हैं, जिस अंधेरेमें हैं, उसीमें रहते हैं।

अब यह कैसे मालूम हो कि जिन बातोंको कष्ट मानते हैं, उन्हें श्रीमान् भी कष्टही मानते हों? अथवा आपके पूर्ववर्ती शासकने जो काम किये, आप भी उन्हें अन्याय भरे काम मानते हों? साथही एक और बात है। प्रजाके लोगोंकी पहुंच श्रीमान् तक बहुत कठिन है। पर आपका पूर्ववर्ती शासक आपसे पहलेही मिल चुका और जो कहना था वह कह गया। कैसे जाना जाय कि आप उसकी बातपर ध्यान न देकर प्रजाकी बातपर ध्यान देंगे? इस देशमें पदार्पण करनेके बाद जहां आपको जरा भी खड़ा होना पड़ा है, वहीं उन लोगोंसे घिर हुए रहे हैं, जिन्हें आपके पूर्ववर्ती शासकका शासन पसन्द है। उसकी बात बनाई रखनेको अपनी इज्जत समझते हैं। अब भी श्रीमान् चारों ओरसे उन्हीं लोगोंके घेरेमें हैं। कुछ करने धरनेकी बात तो अलग रहे, श्रीमान्-के विचारोंको भी इतनी स्वाधीनता नहीं है कि उन लोगोंके बिठाये चौकी पहरेको जरा भी उल्लंघन कर सकें। तिसपर गजब यह कि श्रीमान्-को इतनी भी खबर नहीं कि श्रीमान्-की स्वाधीनता पर इतने पहरे बैठे हुए हैं। हां, यह खबर हो जाय तो वह हट सकते हैं।

जिस दिन श्रीमान्-ने इस राजधानीमें पदार्पण करके इसका सौभाग्य बढ़ाया, उस दिन प्रजाके कुछ लोगोंने सड़कके किनारोंपर खड़े होकर श्रीमान्-को बड़ी कठिनाईसे एक दृष्टि देख पाया। इसके लिये पुलिस पहरेवालोंकी गली, घुसे और धक्के भी बरदाश्त किये। बस, उन लोगोंने श्रीमान्-के श्रीमुखकी एक झलक देख ली। कुछ कहने सुनने का अवसर उन्हें न मिला, न सहजमें मिल सकता। हुजूरने किसी को बुलाकर कुछ पूछताछ न की न सही, उसका कुछ अरमान नहीं, पर जो लोग दौड़कर कुछ कहने सुनने की आशासे हुजूरके द्वार तक गये थे, उन्हें भी उल्टे पांव लौट आना पड़ा। ऐसी आशा अन्तत: प्रजाको आपसे न थी। इस समय वह अपनी आशाको खड़ा होनेके लिये स्थान नहीं पाते हैं।

एक बार एक छोटा-सा लड़का अपनी सौतेली मातासे खानेको रोटी मांग रहा था। सौतेली मां कुछ काममें लगी थी, लड़केके चिल्लानेसे तंग होकर उसने उसे एक बहुत ऊंचे ताकमें बिठा दिया। बेचारा भूख और रोटी दोनोंकी भूल नीचे उतार लेनेके लिये रो रो कर प्रार्थना करने लगा, क्योंकि उसे ऊंचे ताकसे गिरकर मरनेका भय हो रहा था। इतनेमें उस लड़केका पिता आगया। उसने पितासे बहुत गिड़गिड़ाकर नीचे उतार लेनेकी प्रार्थना की। पर सौतेली माताने पतिको डांटकर कहा, कि खबरदार! इस शरीर लड़केको वहीं टंगे रहने दो, इसने मुझे बड़ा दिक किया है। इस बालककीसी दशा इस समय इस देशकी प्रजाकी है। श्रीमान्-से वह इस समय ताकसे उतार लेनेकी प्रार्थना करती है, रोटी नहीं मांगती। जो अत्याचार उसपर श्रीमान्-के पधारनेके कुछ दिन पहलेसे आरम्भ हुआ है, उसे दूर करनेके लिये गिड़गिड़ाती है, रोटी नहीं मांगती। बस, इतनेहीमें श्रीमान् प्रजाको प्रसन्न कर सकते हैं। सुनाम पानेका यह बहुत ही अच्छा अवसर है, यदि श्रीमान्-को उसकी कुछ परवा हो।

आशा मनुष्यको बहुत लुभाती है, विशेषकर दुर्बलको परम कष्ट देती है। श्रीमान्-ने इस देशमें पदार्पण करके बम्बईमें कहा और यहां भी एक बार कहा कि अपने शासनकालमें श्रीमान् इस देशमें सुख शान्ति चाहते हैं। इससे यहांकी प्रजाको बड़ी आशा हुई थी कि वह ताकसे नीचे उतार ली जायगी, पर श्रीमान्-के दो एक कामों तथा कौंसिलके उत्तरने उस आशाको ढीला कर डाला है, उसे ताकसे उतरनेका भरोसा भी नहीं रहा।

अभी कुछ दिन हुए आपके एक लफटन्टने कहा था कि मेरी दशा उस आदमीकीसी है, जिसके एक हिन्दू और एक मुसलमान दो जोरू हों, हिन्दू जोरू नाराज रहती हो और मुसलमान जोरू प्रसन्न। इससे वह हिन्दू जोरूको हटाकर मुसलमान बीबीसे खूब प्रेम करने लगे। श्रीमान्-के उस लफटन्टकी ठीक वैसी दशा है या नहीं, कहा नहीं जा सकता। पर श्रीमान्-की दशा ठीक उस लड़केके पिताकीसी है, जिसकी कहानी ऊपर कही गई है। उधर उसका लड़का ताकमें बैठा नीचे उतरनेके लिये रोता है और इधर उसकी नवीना सुन्दरी स्त्री लड़केको खूब डरानेके लिये पतिपर आंखें लाल करती है। प्रजा और "प्रेस्टीज" दो खयालोंमें श्रीमान फंसे हैं। प्रजा ताकका बालक है और प्रेस्टीज नवीन सुन्दरी पत्नी - किसकी बात रखेंगे? यदि दया और वात्सल्यभाव श्रीमान्-के हृदयमें प्रबल हो तो प्रजाकी ओर ध्यान होगा, नहीं तो प्रेस्टीजकी ओर ढुलकनाही स्वाभाविक है।

अब यह विषय श्रीमान्-हीके विचारनेके योग्य है कि प्रजाकी ओर देखना कर्तव्य है या प्रेस्टीजकी। आप प्रजाकी रक्षाके लिये आये हैं या प्रेस्टीजकी? यदि आपके खयालमें प्रजारूपी लड़का ताकमें बैठा रोया करे और "उतारो, उतारो" पुकारा करे, इसीमें उसका सुख और शान्ति है तो उसे ताकमें टंगा रहने दीजिये, जैसाकि इस समय रहने दिया है। यदि उसे वहांसे उतारकर कुछ खाने पीनेको देनेमें सुख है तो वैसा किया जा सकता है। यह भी हो सकता है कि उसकी

विमाताको प्रसन्न करके उसे उतरवा लिया जाय, इसमें प्रजा और प्रेस्टीज दोनोंकी रक्षा है।

जो बात आपको भली लगे वही कीजिये - कर्तव्य समझिये वही कीजिये। इस देशकी प्रजाको अब कुछ कहने सुननेका साहस नहीं रहा। अपने भाग्यका उसे भरोसा नहीं, अपनी प्रार्थनाके स्वीकार होनेका विश्वास नहीं। उसने अपनेको निराशाके हवाले कर दिया है। एक विनय और भी साथ साथ की जाती है कि इस देशमें श्रीमान् जो चाहें बेखटके कर सकते हैं, किसी बातके लिये विचारने या सोचमें जानेकी जरूरत नहीं। प्रशंसा करनेवाले अब और चलते समय बराबर आपको घेरे रहेंगे। आप देखही रहे हैं कि कैसे सुन्दर कासकेटों में रखकर, लम्बी चौड़ी प्रशंसा भरे एड्रेस लेकर लोग आपकी सेवामें उपस्थित होते हैं। श्रीमान् उन्हें बुलाते भी नहीं, किसी प्रकारकी आशा भी नहीं दिलाते, पर वह आते हैं, इसी प्रकार हुजूर जब इस देशको छोड़ जायेंगे तो हुजूरबालाको बहुतसे एड्रेस उन लोगोंसे मिलेंगे, जिनका हुजूरने कभी कुछ भला नहीं किया। बहुत लोग हुजूर की एक मूर्तिके लिये खनाखन रुपये गिन देंगे, जैसे कि हुजूरके पूर्ववर्ती वैसरायकी मूर्ति कि लिये गिने जा रहे हैं। प्रजा उस शासककी कड़ाईके लिये लाख रोती है, पर इसी देशके धनसे उसकी मूर्ति बनती है।

विनय हो चुकी, अब भगवानसे प्रार्थना है कि श्रीमान्-का प्रताप बढ़े यश बढ़े और जबतक यहां रहें, आनन्दसे रहें। यहांकी प्रजाके लिये जैसा उचित समझें करें। यद्दपि इस देशके लोगोंकी प्रार्थना कुछ प्रार्थना नहीं है, पर प्रार्थनाकी रीति है, इससे की जाती है।

['भारतमित्र', 23 सितम्बर, 1905 ई.]

मार्ली साहबके नाम

"निश्चित विषय।"

विज्ञवरेषु, साधुवरेषु!

बहुत काल पश्चात आपसा पुरुष भाग्यका विधाता हुआ है। एक पंडित, विचारवान और आडम्बररहित सज्जनको अपना अफसर होते देखकर अपने भाग्यको अचल अटल और कभी टससे मस न होनेवाला, वरंच आपके कथनानुसार 'Settled fact' समझनेपर भी आडम्बर शून्य भोलेभाले भारतवासी हर्षित हुए थे। वह इसलिये हर्षित नहीं हुए कि आप उनके भाग्यकी कुछ मरम्मत कर सकते हैं। ऐसी आशाको वह कभीके जलांजलि, दे चुके हैं। उनका हर्ष केवल

इसलिये था कि एक सज्जनको, एक साधुको, यह पद मिलता है। भलेका पड़ोस भी भला, उसकी हवा भी भली। "जो गन्धी कछु दै नहीं, तौहू बास सुबास।"

आप उपाधिशून्य हैं। आपको माई लार्ड कहके सम्बोधन करनेकी जरूरत नहीं है। अथच आप इस देशके माई लार्डके भी माई लार्ड हैं। यहां के निवासी सदासे ऋषि मुनियों और साधु महात्माओंको पूजते आये हैं और यहांके देशपति नरपति लोग सदा उन साधु महात्माओंके सामने सिर झुकाते और उनसे अनुशासन पाते रहे हैं। उसी विचारसे यहांके लोग आपके नियोगसे प्रसन्न हुए थे। एक विचारशील पुरुषका सिद्धान्त है कि किसी देशका उत्तम शासन होनेके लिये दो बातोंमेंसे किसी एकका होना अति आवश्यक है - या तो शासक साधु बन जाय या साधु शासक नियत किया जाय। हाकिम हकीम हो जाय या हकीम हाकिम बनाया जाय। इसीसे आपको भारतका देशमन्त्री देखकर यहांकी प्रजाको हर्ष हुआ था कि अहा! बहुत दिन पीछे एक साधु पुरुष - एक विद्वान सज्जन भारतका सर्व प्रधान शासक होता है।

भारतवासी समझते थे कि मिस्टर मार्ली विद्वान हैं। विद्या पढ़ने और दर्शन-शास्त्रका मनन करनेमें समय बिताकर वह बूढ़े हुए हैं। वह तत्काल जान सकते हैं कि बुराई क्या है और भलाई क्या, नेकी क्या है और बदी क्या? उनको बुराई और भलाईके समझनेमें दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं। वरंच वह स्वयं इतने योग्य हैं कि अपनीही बुद्धिसे ऐसी बातोंकी यथार्थ जांच कर सकते हैं। दूसरोंके चरित्रको झट जान सकते हैं। वह दोषीको धमकायेंगे और उसे सुमार्गमें चलानेका उपदेश देंगे। भारतवासियोंका विचार था कि आप बड़े न्यायप्रिय हैं। किसीसे जरा भी किसी विषयमें अन्याय करना पसन्द न करेंगे और खुशीको नेकीसे बढ़कर न समझेंगे। उचित कामोंके करनेमें कभी कदम पीछे न हटावेंगे और कोई लालच, कोई इनाम और कोई भारीसे भारी पद वा राजनीतिक दांवपेच आपको सत्य और सन्मार्गसे न डिगा सकेगा। आपके मुंहसे जो शब्द निकलेंगे, वह तुले हुए सत्य होंगे। यही कारण है कि भारतवासी आपके नियोगकी खबर सुनकर खुश हुए थे।

पार्लीमेंटके चुनावके समय जिस प्रकार भारतवासी आपके चुनावकी ओर टकटकी लगाये हुए थे, आपके भारत सचिव हो जानेपर उसी प्रकार वह आपके मुंहकी वाणी सुननेको उत्सुक हुए। पर आपके मुंहसे जो कुछ सुना उसे सुनकर वह लोग जैसे हक्का बक्का हुए ऐसे कभी न हुए थे। आपने कहा कि बंग भंग होना बहुत खराब काम है, क्योंकि यह अधिकांश प्रजावर्गकी इच्छाके विरुद्ध हुआ। पर जो हो गया उसे Settled fact, निश्चित विषय समझना चाहिए। एक विद्वान पुरुष दार्शनिक सज्जनकी यह उक्ति कि यह काम यद्यपि खराब हुआ, तथापि अब यही अटल रहेगा। इसकी खराबी अब दूर न होगी। किमाश्चर्यमतः परम।

लड़कपनमें एक देहातीकी कहानी पढ़ी थी जिसका गधा खोया गया था और वह एक दूसरेकी गधीको अपना गधा बताकर पकड़ ले जाना चाहता था। पर जब उसे लोगोंने कहा कि यार! तू तो अपना गधा बताता है, देख यह गधी है; तो उसने घबराकर कहा था कि मेरा गधा कुछ ऐसा गधा भी न था। गंवारका गधा गधी हो सकता है, पर भारतसचिव दार्शनिकप्रवर मार्ली साहब जिस कामको बुरा बताते हैं, वही 'निश्चित विषय' भी हो सकता है, यह बात भारतवासियोंने कभी स्वप्नमें भी नहीं विचारीथी। जिस कामको आप खराब बताते हैं, उसे वैसेका वैसा बना रखना चाहते हैं, यह नये तरीकेका न्याय है। अब तक लोग यही समझते थे कि विचारवान विवेकी पुरुष जहां जायेंगे वहीं विचार और विवेकी मर्यादाकी रक्षा करेंगे। वह यदि राजनीतिमें हाथ डालेंगे तो उसकी जटिलताको भी दूर कर देंगे। पर बात उल्टी देखनेमें आती है। राजनीति बड़े-बड़े सत्यवादी साहसी विद्वानोंको भी गधा गधी एक बतलानेवालोंके बराबर कर देती है।

विज्ञवर! आप समझते हैं और आप जैसे विद्वानोंको समझना चाहिये कि सत्य सत्य है और मिथ्या मिथ्या। मिथ्या और सत्य गड़प शड़प होकर एक हो सकते हैं, यह आप जैसे साधु पुरुषोंके कहनेकी बात नहीं है। विज्ञ पुरुषोंके कहनेकी बात नहीं है। विज्ञ पुरुषोंकी बातोंको आपसमें टकराना न चाहिये। पर गत बजटकी स्पीचमें आपने बातोंके मेढ़े लड़ा डाले हैं। आपने कहा है - "जहां तक मेरी कल्पना जा सकती है, भारत शासन यथेच्छ ढंगका रहेगा।" पर यह भी कहा है - "भारतमें किसी प्रकारकी बुरी चाल चलना हमें उससे भी अधिक खराबीमें डालेगा,जितना दक्षिण अफ्रीकामें चार साल पहले एक बुरी चाल चलकर खराबीमें पड़ चुके है।"

आपने कहा है - "हिन्दुस्थानी कांग्रेसकी कामनाओं को सुनकर मैं घबराता नहीं।" पर यह भी कहा - "जो बातें विलायतको प्राप्त हैं, वह भारतको सब नहीं प्राप्त हो सकतीं।" आपकी इन दोरंगी बातोंसे भारतवासी बड़े घबराहटमें पड़े हैं। घबराकर उन्हें आपके देशकी दो कहावतोंका आश्रय लेना पड़ता है कि - राजनीतिज्ञ पुरुष युक्ति या न्यायके पाबन्द नहीं होते अथवा राजनीतिका कुछ ठिकाना नहीं।

आपको अपनेही एक वाक्यकी ओर ध्यान देना चाहिये - "अपनी साधारण योग्यताके परिणामसेही कोई आदमी प्रसिद्ध या बड़ा नहीं हो सकता। वरंच उचित समयपर उचित काम करनाही उसे बड़ा बनाता है।" जिस पदपर आप हैं - उसकी जो कुछ इज्जत है, वह आपकी नहीं, उस पदकी है। लार्ड जार्ज हमिल्टन और मिस्टर ब्राडरिक भी इसी पदपर थे। पर इस पदसे उनकी इतनीही इज्जत थी कि वह इस पदपर थे। बाकी उनके कामोंके अनुसारही उनकी इज्जत है। आपका गौरव इस पदसे नहीं बढ़ना चाहिए। वरंच आपके कामोंसे इस पदकी कुछ मर्यादा बढ़नी चाहिये।

भारतवासियोंने बहुत कुछ देखा और देख रहे हैं। इस देशके ऋषि-मुनि जब बनोंमें जाकर तप करते थे और यहांके नरेश उनकी आज्ञासे प्रजापालन करते थे, वह समय भी देखा। फिर मुसलमान इस देशके राजा हुए और पुराना क्रम मिट गया, वह भी देखा। अब देख रहे हैं, सात समुद्र पारसे आई हुई एक जातिके लोग जो पहले बिसातीके रूपमें इस देशमें आये थे और छल बल और कौशलसे यहांके प्रभु बन गये। यह देश और यहांकी स्वाधीनता उनकी मुठ्ठीकी चिड़िया बन गई। और भी न जाने क्या क्या देखना पड़ेगा। पर संसारकी कोई बात निश्चित है, यह बात यहांके लोगोंकी समझमें नहीं आती। निश्चित ही होती तो लार्ड जार्ज हमिल्टन और ब्राडरिककी गद्दी साधुवर मार्ली तक कैसे पहुंचती।

न बंगभंगही निश्चित विषय है और न भारतका यथेच्छ शासन। स्थिरता न प्रभातको है और न सन्ध्याको। सदा न वसन्त रहता है, न ग्रीष्म। हां, एक बात अब भारतवासियोंके जीमें भली भांति पक्की होती जाती है कि उनका भला न कन्सरवेटिवही कर सकते हैं और न लिबरलही। यदि उनका कुछ भला होना है तो उन्हींके हाथसे। इसे यदि विज्ञवर मार्ली "निश्चित-विषय" मान लें तो विशेष हानि नहीं।

अत: भारतवासियोंका भला या बुरा जो होना है सो होगा, इसकी उन्हें कुछ परवा नहीं है। उन्हें ईश्वरपर विश्वास है और काल अनन्त है, कभी न कभी भलेका भी समय आजायगा। भारतवासियोंको चिन्ता केवल यही है कि उनके देशसचिव साधुवर मार्ली साहबको अपनी चिरकालसे एकत्र की हुई कीर्ति और सुयशको अपने वर्तमान पदपर कुरबान न करना पड़े। इस देशका एक बहुतही साधारण कवि कहता है -

झूठा है वह हकीम जो लालचसे मालके,

अच्छा कहे मरीजके हाले तबाहको।

अपने लालचके लिये यदि रोगीकी बुरी दशाको अच्छा बतावे तो वह हकीम नहीं कहला सकता। भारतवासी आपको दार्शनिक और हकीम समझते हैं। उनको कभी यह विश्वास नहीं कि आप अपने पदके लोभसे न्यायनीतिकी मर्यादा भंग कर सकते हैं या अपने दलकी बुराई भलाई और कमजोरी मजबूतीके खयालसे भारतके शासन रूपी रोगीकी बिगड़ी दशाको अच्छी बता सकते हैं। आपहीके देशका एक साधु पुरुष कह गया है - "आयर्लेण्डकी स्वाधीनता मेरे जीवनका व्रत है, पर इस स्वाधीनता पानेके लोभसे भी मैं दक्षिण अफरीकावालोंकी स्वाधीनता छिनवानेका समर्थन कभी न करूंगा।" अतः आपसे बार बार यही विनय है कि अपने साधु पदकी मर्यादाका खूब विचार रखिये।

भारतवासियोंको अपनी दशाकी परवा नहीं। पर आपकी इज्जतका उन्हें बड़ा खयाल है। कहीं आप राजनीतिक पदके लोभसे अपने साधुपदको उस देहातीका गधा न बना बैठें।

अपने सिरका तो हमें कुछ गम नहीं,

खम न पड़ जाये तेरी तलवारमें।

['भारतमित्र', 16 फरवरी, 1907 ई.]

आशीर्वाद

तीसरे पहरका समय था। दिन जल्दी जल्दी ढल रहा था और सामनेसे संध्या फुर्तीके साथ पांव बढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटीकी धुनमें लगे हुए थे। सिल-बट्टेसे भंग रगड़ी जारही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था। बादाम इलायचीके छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियां छील कर रस निकाला जाता था। इतनेमें देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं, तबीयत भुरभुरा उठी इधर भंग उधर घटा, बहारमें बहार। इतनेमें वायुका बेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुई। अन्धेरा छाया। बून्दें गिरने लगीं। साथही तड़तड़ धड़धड़ होने लगी, देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तैयार हुई "बम भोला" कहके शर्माजीने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गीपर बड़े लाट मिन्टोने बंगदेशके भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्नकी मूर्ति खोली। ठीक एकही समय कलकत्तेमें यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतनाही था कि शिवशम्भुशर्माके बरामदेकी छतपर बून्दें गिरती थीं और लार्ड मिन्टोके सिर या छातेपर।

भंग छानकर महाराजजीने खटियापर लम्बी तानी। कुछ काल सुषुप्ति के आनन्दमें निमग्न रहे। अचानक धड़धड़ तड़तड़के शब्दने कानोंमें प्रवेश किया। आंखें मलते उठे। वायुके झोंकोंसे किवाड़ पुर्जे-पुर्जे हुआ चाहते थे। बरामदेके टीनोंपर तड़ातड़के साथ ठनाका भी होता था। एक दरवाजेके किवाड़ खोलकर बाहरकी ओर झांका तो हवाके झोंकेने दस बीस बून्दों और दो चार ओलोंसे शर्माजीके श्रीमुखका अभिषेक किया। कमरेके भीतर भी ओलोंकी एक बौछाड़ पहुंची। फुर्तीसे किवाड़ बन्द किये, तथापि एक शीशा चूर हुआ। समझमें आगया कि ओलोंकी बौछाड़ चल रही है। इतनेमें ठन-ठन करके दस बजे। शर्माजी फिर चारपाईपर लम्बायमान हुए। कान, टीन और ओलोंके सम्मिलनकी ठनाठनका मधुर शब्द सुनने लगे। आंखें बन्द, हाथ पांव सुखमें। पर विचारके घोड़ेको विश्राम न था। वह ओलोंकी चोटसे बाजुओंको बचाता हुआ परिन्दोंकी तरह इधर-उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशेमें विचारोंका तार बंधा कि बड़े लाट फुर्तीसे अपनी कोठीमें घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने-अपने घरोंमें चले गये होंगे, पर वह चीलें कहां गई होंगी? ओलोंसे उनके बाजू कैसे बचे होंगे, जो पक्षी इस समय अपने अण्डे बच्चों समेत पेड़ोंपर पत्तोंकी आड़में हैं या

घोसलोंमें छिपे हुए हैं, उनपर क्या गुजरी होगी। जरूर झड़े हुए फलोंके ढेरमें कल सवेरे इन बदनसीबोंके टूटे अण्डे, मरे बच्चे और इनके भीगे सिसकते शरीर पड़े मिलेंगे। हां, शिवशम्भुको इन पक्षियोंकी चिन्ता है, पर यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओंसे परपूरित महानगरमें सहस्रों अभागे रात बितानेको झोंपड़ी भी नहीं रखते। इस समय सैकड़ों अट्टालिकाएं शून्य पड़ी हैं। उनमें सहस्रों मनुष्य सो सकते, पर उनके ताले लगे हैं और सहस्रोंमें केवल दो दो चार चार आदमी रहते हैं। अहो, तिसपर भी इस देशकी मट्टीसे बने हुए सहस्रों अभागे सड़कोंके किनारे इधर उधर-की सड़ी और गीली भूमियोंमें पड़े भीगते हैं। मैले चिथड़े लपेटे वायु वर्षा और ओलोंका सामना करते हैं। सवेरे इनमेंसे कितनोंहीकी लाशें जहां तहां पड़ी मिलेंगी। तू इस चारपाईपर मौजें उड़ा रहा है।

आनकी आनमें विचार बदला, नशा उड़ा, हृदयपर दुर्बलता आई। भारत! तेरी वर्तमान दशामें हर्षको अधिक देर स्थिरता कहां? कभी कोई हर्षसूचक बात दस बीस पलकके लिये चित्तको प्रसन्न कर जाय तो वही बहुत समझना चाहिये। प्यारी भंग! तेरी कृपासे कभी कभी कुछ कालके लिये चिन्ता दूर हो जाती है। इसीसे तेरा सहयोग अच्छा समझा है। नहीं तो यह अधबूढा भंगड़ क्या सुखका भूखा है! घावोंसे चूर जैसे नींदमें पड़कर अपने कष्ट भूल जाता है अथवा स्वप्नमें अपनेको स्वस्थ देखता है, तुझे पीकर शिवशम्भु भी उसी प्रकार कभी-कभी अपने कष्टोंको भूल जाता है।

चिन्ता स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनन्त है। जो बात इस समय है, वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आसकता है। जो बात आज आठ आठ आंसू रुलाती है, वही किसी दिन बड़ा आनन्द उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसीही काली रात थी। इससे भी घोर अंधेरी-भादों कृष्णा अष्टमीकी अर्द्धरात्रि। चारों ओर घोर अन्धकार-वर्षा होती थी, बिजली कौंदती थी, घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरंगोंमें बह रही थी। ऐसे समयमें एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशुको गोदमें लिये, मथुराके कारागारसे निकल रहा था। शिशुकी माता शिशुके उत्पन्न होनके हर्षको भूलकर दुःखसे विह्वल होकर चुपके चुपके आंसू गिराती थी, पुकार कर रो भी नहीं सकती थी। बालक उसने उस पुरुषको अर्पण किया और कलेजेपर हाथ रख कर बैठ गई। सुध आनेके समयसे उसने कारागारमें ही आयु बिताई है। उसके कितने ही बालक वहीं उत्पन्न हुए और वहीं उसकी आंखोंके सामने मारे गये। यह अन्तिम बालक है। कड़ा कारागार, विकट पहरा, पर इस बालकको वह किसी प्रकार बचाना चाहती है। इसीसे उस बालकको उसने पिताकी गोदमें दिया हैं कि वह उसे किसी निरापद स्थानमें पहुंचा आवे।

वह और कोई नहीं थे, यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। उसीको उस कठिन दशामें उस भयानक काली रातमें वह गोकुल पहुंचाने जाते हैं। कैसा कठिन समय था। पर दृढ़ता सब विपदोंको जीत लेती है, सब

कठिनाइयोंको सुगम कर देती है। वसुदेव सब कष्टोंको सह कर यमुना पार करके भीगते हुए उस बालकको गोकुल पहुंचा कर उसी रात कारागारमें लौट आये। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, ब्रजका प्यारा हुआ, मां-बापकी आंखोंका तारा हुआ, यदुकुल मुकुट हुआ। उस समयकी राजनीतिका अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई, जिसके विरुद्ध हुआ उसकी पराजय हुई। वही हिन्दुओंका सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशम्भु शर्माका इष्टदेव, स्वामी और सर्वस्व। वह कारागार भारत सन्तानके लिये तीर्थ हुआ। वहांकी धूल मस्तकपर चढ़ानेके योग्य हुई -

बर जमीने कि निशानेकफे पाये तो वुवद।

सालहा सिजदये साहिब नजरां ख्वाहद बूद।।

(जिस भूमिपर तेरा पदचिह्न है, दृष्टिवाले सैकड़ों वर्षतक उसपर अपना मस्तक टेकेंगे।)

तब तो जेल बुरी जगह नहीं है। "पञ्जाबी" के स्वामी और सम्पादकको जेलके लिये दुःख न करना चाहिये। जेलमें कृष्णने जन्म लिया है। इस देशके सब कष्टोंसे मुक्त करनेवालेने अपने पवित्र शरीरको पहले जेलकी मिट्टीसे स्पर्श कराया। उसी प्रकार "पञ्जाबी" के स्वामी लाला यशवन्त रायने जेलमें जाकर जेलकी प्रतिष्ठा बढ़ाई, भारतवासियोंका सिर ऊंचा किया, अग्रवाल जातिका सिर ऊंचा किया। उतना ही ऊंचा, जितना कभी स्वाधीनता और स्वराज्यके समय अग्रवाल जातिका अग्रोहेमें था। उधर एडीटर मि. अथावलेने स्थानीय ब्राह्मणोंका मस्तक ऊंचा किया जो उनके गुरु तिलकको अपने मस्तकका तिलक समझते हैं। सुरेन्द्रनाथने बंगालकी जेलकी और तिलकने बम्बईकी जेलका मान बढ़ाया था। यशवन्त राय और अथावलेने लाहोरकी जेलको वही पद प्रदान किया। लाहोरी जेलकी भूमि पवित्र हुई। उसकी धूल देशके शुभचिन्तकोंकी आंखोंका अञ्जन हुई। जिन्हें इस देशपर प्रेम है, वह इन दो युवकोंकी स्वाधीनता और साधुतापर अभिमान कर सकते हैं।

जो जेल, चोर डकैतों, दुष्ट हत्यारोंके लिये है जब उसमें सज्जनसाधु, शिक्षित, स्वदेश और स्वजातिके शुभचिन्तकोंके चरण स्पर्श हों तो समझना चाहिये कि उस स्थानके दिन फिरे। ईश्वरकी उसपर दया दृष्टि हुई। साधुओंपर संकट पड़नेसे शुभ दिन आते हैं। इससे सब भारतवासी शोक सन्ताप भूलकर प्रार्थनाके लिये हाथ उठावें कि शीघ्र वह दिन आवे कि जब एक भी भारतवासी चोरी, डकैती, दुष्टता, व्यभिचार, हत्या, लूट खसोट, जाल आदि दोषोंके लिये जेलमें न जाय। जाय तो देश और जातिकी प्रीति और शुभचिन्ताके लिये। दीनों और पददलित निर्बलोंको सबलोंके अत्याचारसे बचानेके लिये, हाकिमोंको उनकी भूलों और हार्दिक दुर्बलतासे सावधान करनेके लिये और सरकारको सुमन्त्रणा देनेके

लिये। यदि हमारे राजा और शासक हमारे सत्य और स्पष्ट भाषण और हृदयकी स्वच्छताको भी दोष समझें और हमें उसके लिये जेल भेजें तो वैसी जेल हमें ईश्वरकी कृपा समझकर स्वीकार करना चाहिये और जिन हथकड़ियों हमारे निर्दोष देशबांधवोंके हाथ बंधें, उन्हें हेममय आभूषण समझना चाहिये। इसी प्रकार यदि हमारे ईश्वरमें इतनी शक्ति हो कि वह हमारे राजा और शासकों को हमारे अनुकूल कर सके और उन्हें उदारचित्त और न्यायप्रिय बना सके तो इतना अवश्य करे कि हमें सब प्रकार के दोषोंसे बचाकर न्यायके लिये जेल काटनेकी शक्ति दे, जिससे हम समझें कि भारत हमारा है और हम भारतके। इस देशके सिवा हमारा कहीं ठिकाना नहीं। रहें इसी देशमें, चाहे जेलमें चाहे घरमें। जब तक जियें जियें और जब प्राण निकल जायं तो यहींकी पवित्र मट्टीमें मिल जायं।

['भारतमित्र', 30 मार्च, 1907 ई.]

शाइस्ताखांका खत - 1

फुलर साहबके नाम

भाई फुलरजंग! दो सौ सवादो सौ सालके बाद तुमने फिर एक बार नवाबी जमानेको ताजा किया है, इसके लिये मैं तुम्हारा शुक्रिया किस जुबानसे अदा करूं। मैंने तो समझा था कि हमलोगोंकी बदनाम नवाबी हुकूमतकी दुनियामें फिर कभी इज्जत न होगी। उसपर अमलदरामद तो क्या उसका नाम भी अगर कोई लेगा तो गाली देनेके लिये। मेरा ही नहीं, मेरे बाद भी जो नवाब हुए उन सबका यही खयाल है। मगर अब देखता हूं कि जमानेका इनकलाब एक बार फिरसे हम लोगोंके कारनामोंको ताजा करना चाहता है।

अपनी हुकूमतके जमानेमें मैंने कितने ही काम अपनी मर्जीसे किये और कितनेही लाचारीसे। उनमेंसे कितनोंहीके लिये मैं निहायत शरमिन्दा हूं, अपने ऊपर मुझे आप नफरत आती है। मैंने देखा कि उन कामोंका नतीजा बहुत खराब हुआ। हुकूमतके नशेमें उस वक्त बुरा भला कुछ न सोचा। मगर अंजाम जो कुछ हुआ, वह सारे जमानेने देख लिया। यानी हमारी कौमको बहुत जल्द हुकूमतसे छुट्टी मिल गई और जिस बादशाहका मैं नायब बनकर बंगालका नाजिम हुआ था, उसने मरनेसे पहले अपनी हुकूमतका जवाल अपनी आंखोंसे देखा। बंगालमें मेरे बाद फिर किसीको नाजिम नहीं होना पड़ा।

गर्जे के मैंने खूब गौर करके देखा बंगालेमें या हिन्दुस्तानमें नवाबी जमाना फिर होनेकी कुछ जरूरत नहीं है। इन दो

सौ सालमें कितनी ही बातें मैंने जान ली हैं, जमानेके कितने ही उलट-पलट देखे और समझे उसकी चालपर खूब निगाह जमाकर देखा, मगर कहीं नवाबीके खड़ा होनेकी गुंजाइश न पाई। लेकिन देखा जाता है कि तुम्हारे जीमें नवाबीकी खाहिश है। तुम बंगालके हिन्दुओंको धमकाते हो कि उनके लिये फिर शाइस्ताखांका जमाना ला दिया जायगा। भई वल्लह। मैंने जबसे यह खबर अपने दोस्त नवाब अब्दुल्लतीफखांसे सुनी है तबसे हंसते हंसते मेरे पेटमें बल पड़ जाते हैं। अकेला मैंही नहीं हंसा, बल्कि जितने मुझसे पहले और पीछेके नवाब यहां बहिश्तमें मौजूद हैं सब एकबार हंसे। यहां तक कि हमारे सिका सूरत बादशाह औरंगजेब भी जो उस दुनियामें कभी न हंसे थे इस वक्त अपनी हंसीको रोक न सके। हंसी इस बातकी थी कि बेसमझे ही तुमने मेरे जमानेका नाम लिया है। मालूम होता है कि तुम्हें इल्म तवारीखसे बहुत कम मस है। अगर तुम्हें मालूम होता कि मेरा जमाना बंगालियोंके बनिस्बत तुम फिरंगियोंके लिये ज्यादा मुसीबतका था, तो शायद उसका नाम भी न लेते। तुमको मालूम होना चाहिये कि यहां बहिश्तमें भी अंग्रेजी अखबार पढ़े जाते हैं। मेरे जमानेमें तो तुम लोगोंकी गिटपिट बोलीको खयालहीमें कौन लाता था, पर मैंने मालूम किया है कि मेरे बाद भी उसकी कुछ कदर न थी। यहांतक कि गदरके जमानेमें दिल्लीके मुसलमान तुम्हारी बोलीको गुड डामियर बोली कहा करते थे। मगर इस वक्त यहां भी तुम्हारी बोलीकी जरूरत पड़ती है क्योंकि अब वह कुल हिन्दुस्तानमें छाई हुई है और हिन्दुस्तानकी खबरोंको जाननेका यहां वालोंको भी शौक रहता है। इसीसे अंग्रेजी अखबारोंकी जरूरी खबरें यहां वाले भी नवाब अब्दुल्लतीफखां वगैरहसे सुन लिया करते हैं।

भाई नवाब फुलर! मैं सच कहता हूं कि मेरा जमाना बुलाना तुम कभी पसन्द न करोगे। मुझे ताज्जुब है कि किसी अंग्रेजने तुम्हारे ऐसा कहनेपर तुम्हें गंवार नहीं कहा। उस वक्त तुम लोग क्या थे, जरा सुन डालो। तुम कई तरहके फरंगी इस मुल्कमें अपने जहाजोंमें बैठकर आने लगे थे। बंगालमें वलन्देज, पुर्तगीज, फरासीसी और तुमलोगोंने कई मुकामोंमें अपनी कोठियां बनाई थीं और तिजारतके बहाने कितनी ही तरहकी शरारतें सोचा और किया करते थे। वह फरंगी चोरियां करते थे, डाके डालते थे, गांव जलाते थे। जब हमलोगोंको यह मालूम हुआ कि तुम्हारी नीयत साफ नहीं है, तिजारतके बहानेसे तुम इस मुल्क पर दखल कर बैठनेकी फिक्रमें हो, तब तुमलोगोंको यहांसे मारके भगाना पड़ा और सिर्फ बंगालहीसे नहीं, सारे हिन्दुस्तानसे निकालनेका भी हमारे बादशाहने बन्दोबस्त किया था। जुल्मसे यह सुलूक तुम्हारे साथ नहीं किया गया, बल्कि तुम्हारी शरारतोंके सबबसे। इसके बाद 50 साल तक तुम अपने पांवसे खड़े न हो सके।

यह कायदा है कि दूसरी कौमकी हुकूमतहीको लोग जुल्मसे भी बढ़कर जुल्म समझते हैं। इससे हिन्दू हमारी हुकूमतको उस जमानेमें बुरा समझते हों तो एक मामूली बात है। तो भी मैं तुम्हारे जाननेको कहता हूं, कि हम मुसलमानोंने बहुत दफे हिन्दुओंके साथ इंसानियतका बर्ताव भी किया है। बहुत सी बदनामियोंके साथ मेरी हुकूमतके वक्तकी एक नेकनामी बंगालेकी तवारीखमें ऐसी मौजूद है, जिसकी नजीर तुम्हारी तवारीखमें कहीं भी न

मिलेगी। मैंने बंगालेके दारुस्सलतनत ढाकेमें एक रुपयेके 8 मन चावल बिकवाये थे। क्या तुममें वह जमाना फिर लादेनेकी ताकत हैं? मैं समझता हूं कि अंग्रेजी हुकूमतमें यह बात नामुमकिन है। अंग्रेजीमें ऐसा न हुआ, न है और न हो सकता है। जहां तुम्हारी हुकूमत जाती हैं, वहीं खाने-पीनेकी चीजोंको एकदम आग लग जाती है। क्योंकि तुम तो हमलोगोंकी तरह खाली हाकिम ही नहीं हो, साथ-साथ बक्काल भी हो। उस अपने बक्कालपनकी हिमायतके लियेही हमारे जमानेको बंगालमें खेंचकर लाना चाहते हो। जो बादशाह भी है और बक्काल भी है, उसकी हुकूमतमें खाने पीनेकी चीजें सस्ती कैसे हों?

मेरी हुकूमतका एक सबसे बड़ा इलजाम मैं खुद बताता हूँ। अपने बादशाहके हुक्मसे मैंने बंगालके हिन्दुओंपर जिजिया लगाया था। पर वह तुम फरंगियोंपर भी लगाया था। तुम लोग चालाक थे, कुछ घोड़े और तोहफा तहायफ देकर बच गये। हिन्दुओंके साथ झगड़ा हुआ। उनके दो चार मन्दिर टूटे और एक इज्जतदार रईस कैद हुआ। इसीके लिये मैं शरमिन्दा हूं और इसका बदला भी हाथों पाया और इसीका खौफ तुम अपने इलाकेके हिन्दुओंको दिलाते हो। वरना यह हिम्मत तो तुममें कहां कि मेरे जमानेकी तरह हिन्दुओंको हरबार हथियार बांधने दो और आठ मनका गल्ला खाने दो।

तुम लोगोंने जो महसूल इस मुल्कपर लगाये हैं, वह क्या कभी इस मुल्ककी खाने पीनेकी चीजोंको सस्ता होने देंगे? तुम्हारा नमकका महसूल जिजियेसे किस बातमें कम हैं? भाई फुलरजंग। कितने ही इलजाम चाहे मुझपर हों, एक बार मैंने इस मुल्ककी रैयतको जरूर खुश किया था। मगर तुमने हुकूमतकी बाग हाथमें लेते ही गुरखोंको अपने वहदेपर मुकर्रर किया है। बच्चोंके मुंहसे "बन्दये मादरम्" सुन कर तुम जामेसे बाहर होते हो, इतनेपर भी तुम मेरी या किसी दूसरे नवाबकी हुकूमतसे अपनी हुकूमतको अच्छा समझते हो। तुम्हें आफरीं है!

तुमने बिगड़ कर कहा है कि तुम बंगालियोंको पांच सौ साल पीछे फेंक दोगे। अगर ऐसा हो, तो भी बंगाली बुरे न रहेंगे, उस वक्त बंगालमें एक ऐसे राजाका राज था, जिसने हिन्दुओंके लिये मन्दिर और मुसलमानोंके लिये मसजिदें बनवाई थीं और उस राजाके मर जानेपर हिन्दू उसकी लाशको जलाना और मुसलमान गाड़ना चाहते थे। वह जमाना तुम्हारे जैसा हाकिम क्यों आने देगा? तुम तो हिन्दू मुसलमानोंको लड़ा कर हुकूमत करनेकी बहादुरी समझते हो और इस वक्त मुसलमानोंके साथ बड़ी मुहब्बत जाहिर कर रहे हो। मगर तुम लोगोंकी मुहब्बत कलकत्तेमें उस लाठके बनानेसे ही समझदार मुसलमान समझ गये, जो तुम्हारा एक चलता अफसर सिराजुद्दौलाका मुंह काला करनेके लिये एक कयासी वकूएकी यादगारीके तौरपर बना गया है। मुसलमानोंसे तुम्हारी जैसी मुहब्बत है, उसे वह लाठ पुकार पुकार कर कह रही है।

अखीरमें मैं तुमको एक दोस्ताना सलाह देता हूं कि खबरदार कभी पुराने जमानेको फिर लानेकी कोशिश न करना। तुम लोगोंको मैं सदा कमीने, झगड़ालू लोग और बेईमान बक्काल कहा करता। मेरे बाद भी तुम्हारे कर्मोंसे इस मुल्कके लोगोंको कभी मुहब्बत नहीं हुई। यहांतक कि खुदाने तुम्हें इस मुल्कका मालिक कर दिया तो भी लोगोंका एतबार तुमपर न हुआ। हां, एक तुम्हारी जन्नतमकानी मलिका विक्टोरियाका जमाना ही ऐसा हुआ, जिसमें इस मुल्कके लोगोंने तुम लोगोंकी हुकूमतकी इज्जत की। क्योंकि उस मलिका मुअज्जमाने अदलसे इस मुल्कके लोगोंका दिल अपने हाथमें लिया। मैं नहीं चाहता कि तुम उस हासिल की हुई इज्जतको खोओ। रैयतके दिलमें इन्साफका सिक्का बैठता है, जुल्मका नहीं। जुल्मके लिये हम लोग बदनाम हो चुके, तुम क्यों बदनाम होते हो? जुल्मका नतीजा हम भोग चुके हैं, पर तुम्हें उससे खबरदार करते हैं। अपने कामोंसे साबित कर दो कि तुम इन्सान हो, खुदातर्स हो, यहांकी रैयतको पालने आये हो, लोगोंको गिरी हालतसे उठाने आये हो, लोग यह न समझे कि मतलबी हो, नाखुदातर्स हो, अपने मतलबके लिये इस मुल्कके लड़कोंको "बन्देय मादरम्" कहनेसे भी बन्द करते हो।

खयाल रखो कि दुनिया चन्दरोजा है। अखिर सबको उस दुनियासे काम है, जिसमें हम हैं। सदा कोई रहा न रहेगा। नेकनामी या बदनामी रह जावेगी। तुम जुल्मसे बंगालियोंको मत रुलाओ, बल्कि ऐसा करो जिससे तुम्हारे लिये तुम्हारे अलग होनेके वक्त बंगाली खुद रोवें। फकत।

शाइस्ताखां - अज जन्नत।

['भारतमित्र', 25 नवम्बर, 1905 ई.]

शाइस्ताखांका खत - 2

फुलर साहबके नाम।

बरादरम् फुलरजंग। तुम्हारी जंग खत्म हो गई। यह लड़ाई तुम साफ हारे। तुमने अपनी शमशीर भी म्यानमें कर ली। इससे अब तुम्हारे अलकाबमें "जंग" जोड़नेकी जरूरत नहीं है। पर जिस तरह तुम्हारी नवाबी छिन जानेपर भी हिन्दुस्तानी सरकार तुम्हें बम्बईमें विलायती जहाजपर तुम्हारे मामूली नवाबी ठाटसे चढ़ा देना चाहती है, उसी तरह मैंने भी मुनासिब समझा कि उस वक्त तक तुम्हारा अलकाव भी बदस्तूर रहे। इसमें हर्ज ही क्या है।

सचमुच तुम्हारी हुकूमतका अंजाम बड़ा दर्दनाक हुआ, जिसे तुमने खुद दर्दनाक बताया है। मुझे उसके लिये ताज्जुब नहीं, क्योंकि वह अटल था। पर अफसोस है कि इतना जल्द हुआ। मैं जानता था कि ऐसा होगा, उसका इशारा मेरे पहले खतमें मौजूद है। पर यह खयाल न करता था कि दस ही महीनेमें तुम्हारी नकली नवाबी तय हो जायगी। वल्लाह, भानमतीके तमाशेको भी मात किया। अभी गुठली थी, जरासा पानी छिड़क कर दो छटांक मट्टीमें दबा देनेसे फूट निकली। दो पत्ते निकल आये। चार हुए। बहुत हुए। पेड़ हुआ, फल लगे। थोड़ी देरमें वही गुठली और वही टीनका लोटा मियां मदारीके हाथ में रह गया।

तुमने यह सुनकर कि नवाबोंके कई कई बेगमें होती थीं, अपने रिआयामेंसे दो बेगमें फर्ज कीं। मगर उनमें जो होशियार थी, उसने तुम्हें मुंह न लगाया और न तुम्हारी नवाबी तसलीम की। जो भोली थी, उसे तुमने रिझाया। पर वह बेचारी अभी यह समझने न पाई थी कि तुम उसके हुस्नोसीरतपर नहीं रीझे, बल्कि होशियार बेगमकी बेएतनाई से कुढ़ कर मतलबकी मुहब्बत दिखाते थे, जिसकी बुनियाद निहायत कमजोर थी। अफसोस तुम्हारी यह शान भी न चली। सिर्फ दो बेगमोंको भी तुम न रिझा सके। सच है, कहीं बुलहवसी भी मुहब्बत हो सकती है।

और तुमने सुना होगा कि नवाब सख्ती बहुत किया करते थे। उनके अमलमें सब तरहकी अन्धाधुन्ध चल सकती थी। इसीसे तुमने भी सख्ती और अन्धाधुन्ध शुरु की। अपनी जबरदस्तीसे तुमने उस जोशको रोकना चाहा, जो अपने मुल्ककी बनी चीजोंके फैलाने औ गैरमुल्ककी चीजोंके रोकनेके लिये बंगालमें बड़ी तेजीसे फैल रहा था। तुमने इस बातपर खयाल न किया कि जो जोश तुम्हारे अफसरेआलाकी सख्तीसे पैदा हुआ है, वह सख्ती औ जबरदस्तीसे कैसे दब सकता है। शायद तुमने समझा कि वह पूरी सख्तीसे दबाया नहीं गया, इसीसे फैला है, तुम्हारी सख्ती उसे दबा देगी और जो काम तुम्हारे खुदावन्दसे न हुआ, उसके कर डालनेकी बहादुरी तुम हासिल कर लोगे। मगर अब तुम्हें अच्छी तरह मालूम हो गया होगा कि ऐसा समझनेमें तुमने कितनी बड़ी गलती खाई। तुम्हारे आला अफसरने यह ओहदा तुम्हारी बेहतरीके लिये तुम्हें नहीं दिया था, बल्कि अपनी जिद्द पूरी कराने या अपना उल्लू सीधा करानेके लिये। मगर उसकी वह आरजू पूरी न हुई, उल्टी तुम्हें तकलीफ और खिफ्फत उठानी पड़ी। तुम सच जानो तुम्हारे ओहदेपर बैठनेके लिये तुमसे बढ़कर लायक और हकदार लोग कई मौजूद थे। मगर वह लोग थे जो अपनी अक्लसे काम लेते और इस बातपर खूब गौर करते कि सख्ती करके जब हमारे आला अफसरने शकस्त खाई है तो हमें उसमें फतह कैसे हासिल होगी। तुम्हें भी अगर इतना सोचनेकी मोहलत मिलती तो तुम चाहे इस ओहदेहीको कबूल न करते या उस रास्तेको तर्क करते, जिसपर तुम चलकर खराब हुए।

देखो भाई। जो गुजर गया है, उसे कोई लौटा नहीं सकता। बहकर दूर निकल गया हुआ नदीका पानी क्या कभी फिर

लौटा हैं? पांच सौ बरसका या मेरा दो सवादो सौ सालका जमाना फिर लौटा लेना तो बहुत बड़ी बात है, तुम अपनी नवाबीके बीते हुए दस महीनोंको भी लौटानेकी ताकत नहीं रखते। क्या तुम सन् 1906 ईस्वीको पीछे हटाकर 1406 बना सकते हो? नहीं; भाई इतने वर्ष तो कहां, तुममें 20 अगस्तको 19 बनानेकी भी ताकत नहीं है। जरा पांच सौ साल पहलेकी अपने मुल्ककी तारीखपर निगाह डालो। उस वक्त तुम्हारी कौम क्या थी? अगर तुम किसी तरह उस जमानेतक पहुंच जाओ तो अपनी शकल पहचान न सको। दुनिया तारीक दिखाई देने लगे और तुम खौफसे आंखें बन्द करलो। दुनियामें तुम्हें अपना कोई मातहत मुल्क नजर न आवे, बल्कि अपने ही मुल्कमें तुम्हें अपनेको बेगाना समझना पड़े।

हिन्दमें मेरा जमाना लानेके लिये तुम्हें रेल-तार तोड़ने, दुखानी जहाज गारत करने, डाक उठवा देने, गैस बिजली वगैरहको जेहन्नमरसीद कर देनेकी जरूरत है। नहरें पटवा देने और सड़कें उठवा देनेकी जरूरत है। साथ ही तालीमको नेस्तोनाबूद कर देनेकी जरूरत है। तुम सबको छोड़ कर एक तालीमको मिटानेकी तरफ झुके थे। यह हिदायत तुम्हें तुम्हारे मालिक मुर्शिद लाट कर्जनकी तरफसे हुई थी। पर अंजाम और ही हुआ। तालीम गारत न हुई, बल्कि और तरक्की पा गई। बंगाली अपना कौमी दारुलउलूम बनाते हैं। गारत हुई पहले तुम्हारी नेकनामी और पीछे नौकरी।

रिआया और मदरसेके तुलबासे लड़ते लड़ते तुमने नवाबी खत्म की। लोगोंको आम जलसे करने और कौमी नारे मारनेसे रोका। लड़कोंको अपने मुल्की मालकी तरफ मुतवज्जह देखकर तुमने उनको जेलमें भिजवाया, स्कूलोंसे निकलवाया और पिटवाया। तुम्हारे इलाके बरीसालमें तुम्हारे मातहतोंने इस मुल्ककी रिआयाके सबसे आला इज्जतदार और तालीमयाफ्ता बेइज्जत करनेकी निहायत खफीफ हरकत की। तुमने अपने मातहतोंका इसमें साथ दिया। नतीजा यह हुआ कि हाईकोर्टसे तुम्हारे कामोंकी मलामत हुई। तुमने बड़ी शेखीसे कहा था कि हाईकोर्ट मेरा कुछ नहीं कर सकती, पार्लीमेंट मेरे हुक्मको रोक नहीं सकती। मगर दोनों बातें गलत साबित हुई। हाईकोर्टसे तो तुमने मलामत सुनी ही पार्लीमेन्टसे भी वह सुनी कि सारी नवाबी भूल गये। तुम्हारी होशियारी और लियाकतका इसीसे पता लगता है कि तुम्हारे अफसरका हुक्म पहुंचनेसे पहले तुम्हारे सूबेमें एक बन्दयेखुदाको बेवक्त फांसी होगई।

तुम्हारी इन हरकतोंपर यहां जन्नतमें खूब खूब चर्चे होते हैं। पुराने बादशाह और नवाब कहते हैं कि भाई। यह फरंगी खूब हैं। एशियाई लोगोंके ऐब तलाश करनेहीको यह अपनी बहादुरी समझते हैं। दिखानेको तो उन ऐबोंसे नफरत करते हैं, पर हकीकत देखिये तो उनको चुन चुनकर काममें लाते हैं। मगर हुनरोंसे चश्मपोशी करते हैं। तुमलोग हमारे

जमानेके ऐबोंको काममें लानेसे नहीं हिचकते। मगर उस जमानेके हुनरोंकी नकल करनेकी तरफ खयाल नहीं दौड़ाते, क्योंकि वह टेढ़ी खीर है। कहां आठ मनके चावल और कहां हथियार बांधनेकी आजादी।

आठ मनके चावलोंकी जगह तुम खुश्कसाली और कहत छोड़कर जाते हो। हथियारोंकी आजादीकी जगह दस आदमियोंका मिलकर निकलना मजलिसें करना और 'वन्देमातरम्' कहना बन्द किये जाते हो। अरे यार। इतना तो सोचा होता कि पिंजरेमें भी चिड़िया बोल सकती है। कैदमें भी जबान कैद नहीं होती। तुमने गजब किया लोगोंका मुंहतक सी दिया था।

और भी अहलेजन्नतने एक बातपर गौर किया है। वह यह कि किस भरोसेपर तुम अपने सूबेके लोगोंको मेरे जमानेमें फेंक देनेकी जुरअत करते थे। इसकी वजह सुनिये। तुम खूब जानते हो कि तुम्हारी डेढ़ सौ सालकी हुकूमतने तुम्हारे सूबेके लोगोंको कुछ भी आगे नहीं बढ़ाया। वह करीब करीब दो सौ साल पहलेके जमानेहीमें हैं। तुम उनको बढ़ाते तो आज वह तुमसे किसी बातमें सिवा चमड़ेके रंगके कम न होते। पर तुमने उन्हें वहीं रखा, बल्कि उनकी कुछ पुरानी खूबिया छीन लीं और पुराने पुराने हुकूक जब्त कर लिये। दी थी कुछ तालीम और कुछ नौकरियां, उन्हींको छीनकर तुम उन्हें औरंगजेबके जमानेमें फेंकना चाहते थे, वरना और दिया ही क्या था, जो छीनते और बढ़ाया ही क्या था, जो घटाते?

अपनी दस महीनेकी नवाबी से तुम खुद तंग आगये थे। इसीसे कयास करलो कि गरीब रैयतको कैसी तकलीफ हुई होगी। सब तुम्हारे जानेसे खुश हैं। ताहम खुशकिस्मतीसे हमारी मरहूम कौम रोनेको तैयार है। उसे तुम प्यारी बेगम कहकर बेवा बना चले हो। वह तुम्हारे फिराकमें टिसवे बहाती है। तुम्हें घरतक पहुंचा देनेमें वह टिसवे तुम्हारी मदद करेंगे। भाई। हमारी कौमकी सलतनत गई, हुकूमत गई, शानोशौकत गई, पर जिहालत और गुलामीकी आदत न गई। वह मर्द नहीं बनना चाहती, बल्कि रांड रहकर सदा एक खाविन्द तलाश करती रहती है। देखें तुम्हारे बाद क्या करती है।

तूल फुजूल है। तुम चले, अब कहनेसेही क्या है? पर जो तुम्हारे जानशीन होते हैं, वह सुन रखें कि जमानेके बहते दरयाको लाठी मारके कोई नहीं रोक सकता। दूसरेको तंग करके कोई खुश रह नहीं सकता। अपने मुल्कको जाओ और खुदा तौफीक दे तो हिन्दुस्तानके लोगोंको कभी कभी दुआये खैरसे याद करना। वस्सलाम् -

शाइस्ताखां - अज जन्नत।

['भारतमित्र', 18 अगस्त, 1906 ई.]

सर सैय्यद अहमदका खत

अलीगढ़ कालिजके लड़कोंके नाम

मेरे प्यारो, मेरी आंखोंके तारो, मेरी कौमके नौनिहालो!

जिन्दगीमें मैंने इज्जत, नामवरी बहुत कुछ हासिलकी, मगर यह कहूंगा और मेरा यह कहना बिलकुल सच है कि तुम्हारी बेहतरीकी तदबीरहीमें मैंने अपनी उमर पूरी कर दी। तुम लोगोंकी तरक्की और बेहबूदीके खयालहीको मैं अपनी जिन्दगीका हासिल समझता रहा। होश सम्हालनेके दिनसे अखीर दमतक इस कौमेमरहूमका मरसियाही मेरी जुबानपर जारी था। लाख लाख शुक्रकी जगह है कि मेरी मेहनत बेकार न गई। तुम्हारे लिये मैं जो कुछ चाहता था, उनमेंसे बहुत कुछ पूरा हुआ और तुम्हें एक अच्छी हालतमें देखलेनेके बाद मैंने खुदाको जान सौंपी।

उस दिन मेरे मजारपर आकर तुमने निढाल होकर अपने आंसुओंके मोती बखेर दिये। उस वक्तकी अपने दिलकी कैफियत क्या जाहिर करूं कि मुझपर क्या गुजरती थी और तबसे मुझे कितनी बेचैनी है। हाय!

चि मिकदार खूं दर अमद खुर्दा बाशम।

कि बर खाकम आई ओ मन मुर्दा बाशम।।

काश! मुझमें ताकत होती कि मैं उस वक्त तुमसे बोल सकता और तुम्हारे पास आकर तुम्हें गोदमें लेकर कलेजा ठण्डा करता और तुम्हारे फूलसे मुखड़ोंसे आंसू पोंछकर तुम्हें हंसानेकी कोशिश कर सकता। मगर आह! यह सब बातें नामुमकिन थीं, इससे मुझपर जो कुछ बीती वह मैं ही जानता हूं। मर कर भी मुझे आराम न मिला। इस नई दुनियामें आकर भी मुझे कल न मिली।

अजीजो! जिस हालतमें तुम इस वक्त पढ़े हो, इसका मुझे जीते जी ही खटका था। खासकर अपनी जिन्दगीके अखीर दिनोंमें मुझे बड़ाही खयाल था। इसके इन्सदादकी कोशिश भी मैंने बहुत कुछ की, मगर खुदाको मंजूरन थी, इससे काम बनकर भी बिगड़ गया। तुममेंसे बहुतोंने सुना होगा कि मैंने अपनी मौजूदगीही में यह फैसला कर दिया था कि मेरे बाद महमूद तुम्हारे कालिजका लाइफ सेक्रेटरी बने। इसपर वह शोरिश मची और वह तूफाने बेतमीजी बरपा हुआ कि अल अमान! मेरी सब करनी धरनी भूल कर लोग मुझे खुदगरज और मतलबी कहने लगे। उस कौमी कालिजको मेरे घरका कालिज बताने लगे और ताने देने लगे कि मैं अपने बेटेको अपना जानशीन बनाकर कौमसे दगा करता हूं। मुझपर "अहमदकी पगड़ी महमूदके सिर" की फबती उड़ाई गई। पर मैंने कुछ परवा न की। सय्यद महमूदको लाइफ सेक्रेटरी बनाया। अपने जीतेजी एक अपनेसे भी बढ़कर लायक सेक्रेटरी तुम्हारे कालिजको दे गया था। पर अफसोस उसकी उमरने वफा न की। मेरे थोड़े ही दिन पीछे वह भी मेरे ही पास चला आया।

इस वक्त तुमपर जो कुछ गुजरी है, अगर मैं होता तो उसकी यह शकल कभी न होती। न सय्यद महमूदकी मौजूदगीमें ऐसा करनेकी किसीकी हिम्मत होती। मगर अफसोस हम दोनों ही नहीं। जो हैं, उनके बारेमें और क्या कहा जाय, अच्छे हैं। कालिजके नसीब। कौमके नसीब। अजीजो। यह कालिज तुम्हारे लिये बना था। तुम्हीं उसमेंसे निकाले जाते हो, तो यह किस काम आवेगा? उफ। मेरी समझमें नहीं आता कि मैंने तुम्हारे लिये यह दारुलउलूम बनाया था या गुलामखाना। तुम्हारे मौजूदा सेक्रेटरी क्या खयाल करते होंगे?

मगर क्या पस्तखयालीका नतीजा पस्ती न होना चाहिये? तुम्हारी और तुम्हारे कालिजकी मौजूदा हालतका क्या मैं ही जिम्मेदार नहीं हूं? क्या यह इस वक्तका दर्दनाक नज्जारा मेरी चालका नतीजा नहीं है? हां। यह जंजीरें कौमी तरक्कीके पांवोंमें अपने ही हाथोंसे डाली गई हैं, दूसरा कोई इसके लिये कसूरवार नहीं ठहर सकता। अगर इबतिदासे अखीरतक मेरी चाल एक ही रहती तो यह खराबी काहेको होती? कौमी पस्तीका ऐसा सीन देखनेमें न आता।

न जिल्लतसे नफरत न इज्जतका अरमां।

मैं वही हूं, जिसने "असबाबे बगावत" लिखकर विलायत तकमें खलबली डाल दी थी। इन सूबोंमें मैं ही पहला शख्स हूं, जिसने अंग्रेजोंको आम रिआयाकी रायका खयाल दिलाया। मैंने ही सबसे पहले डंकेकी चोट यह जाहिर किया था कि अगर हिन्दुस्थानकी कौंसिलोंमें अंग्रेज, रिआयाके कायममुकाम लोगोंको शामिल करते तो कभी गदर न होता। तुम कभी न समझना कि मैं अंग्रेजोंकी खुशामद किया करता था, या खुशामदको किसी कौमकी तरक्कीका जीना समझा

करता। बल्कि मैंने सदा अंग्रेजोसे बराबरीका बरताव किया है। कितने ही बड़े-बड़े अंग्रेज अफसर मेरे दोस्त रहे हैं, मैंने सदा उनसे दोस्ताना और बेतकल्लुफाना गुफ्तगू की है। कभी उनकी अफसरी या हाकिमीका रोब मानकर उनसे बरताव नहीं किया। खुदाकी इनायतसे सय्यद महमूदकी तबीयतमें मुझसे भी ज्यादा आजादी थी और साथ ही उसने मगरबी इल्मोंमें भी फजीलत हासिल की थी, जिससे उस आजादीकी चमक दमक और भी बढ़ गई थी। यही वजह थी कि मैंने महमूदको जीतेजी अपना कायममुकाम और तुम्हारे कालिजका सेक्रेटरी मुकर्रिर किया था। अगर वह होता तो आज तुम लोगोंकी आजादी और इज्जत एक मामूली हिन्दुस्थानी कान्स्टबलकी हिमायतमें ठोकर न खाती फिरतीं और तुम्हें कालिजसे निकालकर कान्स्टबलोंको कालिजके अहातेमें न ला खड़ा किया जाता।

मेरे बच्चो! मेरी एक ही कमजोरीका यह फल है, जिसे तुम भोग रहे हो और जिसके लिये आज मेरी रूह कब्रमें भी बेकरार है। मेरी उस कमजोरीने खुदगरजी और खुशामदका दरजा हासिल किया। पर सच यह है, मैंने जो कुछ किया कौमकी भलाईके लिये किया, अपने फायदेके लिये नहीं। पर वैसा करना बड़ी भारी भूल थी, यह मैं कबूल करता हूं और उसका इतना खौफनाक नतीजा होगा, इसका मुझे ख्वाबमें भी खयाल न था। मैंने यही समझा था कि इस वक्त मसलहतन यह चाल चल ली जाय, आगे चलकर इसकी इसलाह कर ली जायगी। मैं यह न समझा था कि यह चाल मेरी कौमके रगोरेशेमें मिल जायगी और छूटनेके बजाय उसकी खूबू और आदत बन जायगी। अफसोस! खुद कर्दा अम खुद कर्दारा इलाजे नेस्त।

हिन्दुओंसे मेल रखना मुझे नापसन्द नहीं था। मेरे ऐसे हिन्दू दोस्त थे, जिन्होंने मरते दमतक मुझसे दोस्ती निबाही और जिनकी सोहबतसे मुझे बड़ी खुशी हासिल होती थी। कालिजके लिये उनसे माकूल चन्दे मिले हैं। पञ्जाबमें कालिज के चन्देके लिये दौरा करनेके वक्त लेक्चरमें मैंने कहा था कि हिन्दू मुसलमानोंको मैं एकही आंखसे देखता हूं। क्या अच्छा होता जो मेरे एक ही आंख होती, जिससे मैं इन दोनोंको सदा एक ही आंखसे देखा करता? अफसोस! अपनी कौमकी शकस्ताहालीने मुझे उस सच्चे रास्तेसे हटाया। मैंने सन् 1888 ई. में इण्डियन नेशनल कांग्रेससे मुखालिफत करके हिन्दू-मुसलमानोंको दो आंखोंसे देखनेका खयाल पैदा किया और अपने उन्हीं सच्चे और पुराने खयालातपर पानी फेरा, जिनका दावेदार कांग्रेससे पहले मैं खुद था। खयाल करनेसे तअज्जुब और अफसोस मालूम होता है कि मैंने वह सच्चा और सीधा रास्ता छोड़ा भी तो किसके कहनेसे कि जो 'असबाबे बगावत' लिखनेके वक्त मेरे पिछले खयालातका तरफदार था और उसीने मेरी उस उर्दू किताबका अंग्रेजी तरजुमा कर दिया था। काश। सर आकलेण्ड कालविन इन सूबोंके लफटन्ट गवर्नर न होते और उसी हैसियतमें रहते, जैसे उस किताबके तरजुमा करनेके वक्त थे।

मेरे अजीजो! जमानेकी रफ्तारको कोई रोक नहीं सकता। वह सबको अपने रास्तेपर घसीट ले जाती है। अगरचे तुम लड़के नहीं हो, जवान हो और`` माशाअल्लह तुममेंसे कितनोंहीके दाढ़ी मूंछें भी निकल रही है। मगर इस कालिजमें तुम परदेकी बूबूकी तरह रखे जाते हो, गैरके सायेसे बचाये जाते हो। तुम्हारे हर कामपर अंग्रेज प्रिन्सपल वगैरा वैसाही पहरा रखते हैं, जैसे दाया और मामा छूछू गोदके और उंगलीके सहारेके बालकोंपर रखती हैं। पर इतनेपर भी तुम निरे गोदके बच्चे नहीं बने रह सके। बहुत दबनेपर तुम्हें जवानोंकी तरह हिम्मत करनी पड़ी। गोदके बच्चे क्या सदा गोदहीमें रह सकते हैं? उफ! अजीब मखमसेमें फंसे हो। तुम्हारे गोरे अफसर एक गोरे हाकिमकी खुशामदको तुमसे अजीज समझकर एक कान्स्टबलपर तुम्हें निसार करते हैं और तुम्हारे सेक्रेटरी द्रस्टी अपनी वफादारीके दामनपर दाग नहीं लगने देना चाहते। अगर वह तुम्हारी तरफदारी करें तो अंग्रेज अफसर उन्हें बागी समझेंगे। तुम्हारी सांप छूछूंदरकीसी हालत हुई।

सबसे गजबकी बात है कि यह पस्तहिम्मती मेरी ही पालीसी बताई जाती है और इसका अमलदरआमद करना मेरी रूहको सवाब पहुंचाना समझा जाता है। मेरा जी घबराता है कि हाय! एक मामूलीसी कमजोरीके लिये यह जिल्लत! जो झूठे टुकड़े अंग्रेज अपनी मेजपरसे इस मुल्क के हिन्दू मुसलमानोंकी तरफ फेंक देते हैं, उनमेंसे दो चार मुसलमानोंके लिये ज्यादा लपक देनेके लिये यह जिल्लत। इस वक्त कुछ समझमें नहीं आता कि क्या कहकर तुम्हें तसल्ली दूं। इससे एक उलुलअज्म शाइरका एक मिसरा पढ़कर यह खत खत्म करता हूं -

"तुम्हीं अपनी मुशकिलको आसां करोगे।"

सय्यद अहमद - अज जन्नत

['भारतमित्र', 9 मार्च, 1907 ई.]

कविता क्या है ?

मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों को लिये-दिये दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलता और कहीं लड़ाता हुआ अन्त तक चला चलता है और इसी को जीना कहता है। जिस अनन्त-रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत्। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र से नाना रूपों और व्यापारो को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिल्कुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते है। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का सञ्चार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सब की अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारो का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्बाह होता है। जिस प्रकार जगत् अनेक-रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक-भावात्मक है। इन अनेक

भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जब कि इन सबका प्रकृत सामञ्जस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाय। इन्हीं भावो के सूत्र से मनुष्य-जाति जगत् के साथ तादात्मय का अनुभव चिरकाल से करती चली आई है। जिन रूपो और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगो से ही परिचित है, जिन रूपो और व्यापारो को सामने पाकर वह नर-जीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हे मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को भावो के विषय या आलम्बन बनाने के लिए इन्हीं मूल रूपों और मूल व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाए जाते तब तक उनपर काव्यदृष्टि नहीं पड़ती।

वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़ी, फुस, शाखा, पशु-पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र इत्यादि ऐसे ही चिरसहचर रूप हैं। खेत, ढुर्री, हल, झोपड़े, चौपाए इत्यादि भी कुछ कम पुराने नही हैं। इसी प्रकार पानी का बहना, सूखे पत्तों का झड़ना, बिजली का चमकना, घटा का घेरना, नदी का उमड़ना, मेह का बरसना, कुहरे का छाना, डर से भागना, लोभ से लपकना, छीनना, झपटना, नदी या दलदल से बाँह पकड़कर निकालना, हाथ से खिलाना, आग में झोंकना, गला काटना ऐसे व्यापारो का भी मनुष्य-जाति के भावो के साथ अत्यन्त प्राचीन साहचर्य्य है। ऐसे आदिम रूपो और व्यापारो में, वंशानुगत वासना की दीर्घ-परम्परा के प्रभाव से, भावों के उद्‌बोधन की गहरी शक्ति सञ्चित है; अतः इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक सम्भव है वैसा कल, कारखाने, गोदाम, स्टेशन एंजिन, हवाई जहाज़ ऐसी वस्तुओ तथा अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्व-हरण के जाली दस्तावेज़ बनाना, मोटर का चरख़ा घुमाना या एञ्जिन में कोयला झोंकना आदि व्यापारो द्वारा नहीं।

सभ्यता के आवरण और कविता

सभ्यता की वृद्धि के साथ साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गए त्यों-त्यों उनके मूल रूप बहुत कुछ आच्छन्न होते गए। भावो के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और-और लक्ष्यो की स्थापना होती गई; वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि-द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया। इस प्रकार बहुत से ऐसे व्यापारों से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावों का सीधा लगाव नही। जैसे आदि में भय का लक्ष्य अपने शरीर और अपनी सन्तति ही की रक्षा तक था; पर पीछे गाय, बैल, अन्न आदि की रक्षा आवश्यक हुई, यहाँ तक कि होते-होते धन, मान, अधिकार, प्रभुत्व इत्यादि अनेक बातो की रक्षा की चिन्ता ने घर किया और रक्षा के उपाय भी वासनाजन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के होने लगे इसी प्रकार क्रोध, घृणा, लोभ आदि अन्य भावों के विषय भी अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण करने लगे। कुछ भावो के विषय तो अमूर्त तक होने लगे, जैसे कीर्ति की लालसा। ऐसे भावों को ही बौद्ध-दर्शन में 'अरूपराग' कहते हैं।

भावों के विषयो और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका सम्बन्ध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर भीतर बना है और बराबर बना रहेगा। किसी का कुटिल भाई उसे सम्पत्ति से एकदम वञ्चित रखने के लिए वकीलो की सलाह से एक नया दस्तावेज़ तैयार करता है। इसकी ख़बर पाकर वह क्रोध से नाच उठता है। प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से तो उसके क्रोध का विषय है वह दस्तावेज़ या काग़ज़ का टुकड़ा। पर उस काग़ज़ के टुकड़े के भीतर वह देखता है कि उसे और उसकी सन्तति को अन्न-वस्त्र न मिलेगा। उसके क्रोध का प्रकृत विषय न तो वह कागज़ का टुकड़ा है और न उस पर लिखे हुए काले-काले अक्षर। ये तो सभ्यता के आवरण मात्र हैं। अतः उसके क्रोध में और उस कुत्ते के क्रोध में

जिसके सामने का भोजन कोई दूसरा कुत्ता छीन रहा है काव्यदृष्टि से कोई भेद नहीं है—भेद है केवल विषय के थोड़ा रूप बदलकर आने का। इसी रूप बदलने का नाम है सभ्यता। इस रूप बदलने से होता यह है कि क्रोध आदि को भी अपना रूप कुछ बदलना पड़ता है, वह भी कुछ सभ्यता के साथ अच्छे कपड़े-लत्ते पहनकर समाज में आता है जिससे मार-पीट, छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जानेवाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है।

पर यह प्रच्छन्न रूप वैसा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इसी से इससे प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का एक मुख्य अंग है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यो कवियो के लिए यह काम बढ़ता जायगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पदों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यो-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जायँगे त्यों-त्यो एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि कर्म कठिन होता जायगा। ऊपर जिस क्रुद्ध व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है वह यदि क्रोध से छुट्टी पाकर अपने भाई के मन में दया का सञ्चार करना चाहेगा तो क्षोभ के साथ उससे कहेगा, "भाई! तुम यह सब इसी लिए न कर रहे हो कि तुम पक्की हवेली में बैठकर हलवा पूरी खाओ और मैं एक झोपड़ी में बैठा सूखे चने चबाऊँ, तुम्हारे लड़के दोपहर को भी दुशाले ओढ़कर निकलें और मेरे बच्चे रात को भी ठण्ड से काँपते रहे"। यह हुआ प्रकृत रूप का प्रत्यक्षीकरण। इसमें सभ्यता के बहुत से आवरणों को हटाकर वे मूल गोचर रूप सामने रखे गए हैं-जिनसे हमारे भावों का सीधा लगाव है और जो इस कारण भावों को उत्तेजित करने में अधिक समर्थ हैं। कोई बात जब इस रूप में आएगी तभी उसे काव्य के उपयुक्त रूप प्राप्त होगा। "तुमने हमें नुक़सान पहुँचाने के लिए जाली दस्तावेज़ बनाया" इस वाक्य में रसात्मकता नहीं। इस

बात को ध्यान में रखकर ध्वनिकार ने कहा है—"नहि कवेरितिवृत्त-मात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः।"

देश की वर्तमान दशा के वर्णन में यदि हम केवल इस प्रकार के वाक्य कहते जायँ कि "हम मूर्ख, बलहीन और आलसी हो गए हैं, हमारा धन विदेश चला जाता है, रुपये का डेढ़ पाव घी बिकता है, स्त्री-शिक्षा का अभाव है" तो ये छन्दोबद्ध होकर भी काव्य पद के अधिकारी न होंगे। सारांश यह कि काव्य के लिये अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे। जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखनेवाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा। भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे; जैसे, यशोलिप्सा में कुछ दूर भीतर चलकर उस आनन्द के उपभोग की प्रवृत्ति छिपी हुई पाई जायगी जो अपनी तारीफ़ कान में पड़ने से हुआ करता है।

काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता; बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है। 'रुपये का डेढ़ पाव घी मिलता है,' इस कथन से कल्पना में यदि कोई बिम्ब या मूर्ति उपस्थित होगी तो वह तराजू लिए हुये बनिये की होगी जिससे हमारे करुणा भाव का कोई लगाव न होगा। बहुत कम लोगों को घी खाने को मिलता है, अधिकतर लोग रूखी-सूखी खाकर रहते हैं, इस तथ्य तक हम अर्थग्रहण-परम्परा द्वारा इस चक्कर के साथ पहुँचते हैं—एक रुपये का बहुत कम घी मिलता है; इससे रुपयेवाले ही घी खा सकते हैं, पर रुपयेवाले बहुत कम हैं; इससे अधिकांश जनता घी नहीं खा सकती, रूखी-सूखी खाकर रहती है।

कविता और सृष्टि-प्रसार

हृदय पर नित्य प्रभाव रखवाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का

सामञ्जस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। यदि अपने भावों को समेटकर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों और पटपर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन-दुखी का आर्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अवलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह क्या गया? इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिये।

काव्यदृष्टि कहीं तो १. नरक्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं २. मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और ३. कहीं समस्त चराचर के।

१. पहले नरक्षेत्र को लेते हैं। संसार में अधिकतर कविता इसी क्षेत्र के भीतर हुई है। नरत्व की बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति के नाना सम्बन्धों और पारस्परिक विधानों का सङ्कलन या उद्भावना ही काव्यों में—मुक्तक हों या प्रबन्ध—अधिकतर पाई जाती है।

प्राचीन महाकाव्यों और खण्डकाव्यों के मार्ग में यद्यपि शेष दो क्षेत्र भी बीच-बीच में पड़ जाते हैं पर मुख्य यात्रा नरक्षेत्र के भीतर ही होती है। वाल्मीकि-रामायण में यद्यपि बीच-बीच में ऐसे विशद वर्णन बहुत कुछ मिलते हैं जिनमें कवि की मुग्ध दृष्टि प्रधानतः मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के रूप जाल में फँसी पाई जाती है, पर उसका प्रधान विषय लोकचरित्र ही है। और प्रबन्ध-काव्यों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। रहे मुक्तक या फुटकल पद्य, वे भी

अधिकतर मनुष्य ही की भीतरी बाहरी वृत्तियों से सम्बन्ध रखते हैं। साहित्य-शास्त्र की रस-निरूपण-पद्धति में आलम्बनों के बीच बाह्य प्रकृति को स्थान ही नहीं मिला है। वह उद्दीपन मात्र मानी गई है। शृंगार के उद्दीपन रूप में जो प्राकृतिक दृश्य लाए जाते हैं, उनके प्रति रतिभाव नहीं होता; नायक या नायिका के प्रति होता है। वे दूसरे के प्रति उत्पन्न प्रीति को उद्दीप्त करनेवाले होते हैं; स्वयं प्रीति के पात्र या आलम्बन नहीं होते। संयोग में वे सुख बढ़ाते हैं और वियोग में काटने दौड़ते हैं। जिस भावोद्रेक और जिस ब्योरे के साथ नायक या नायिका के रूप का वर्णन किया जाता है उस भावोद्रेक और उस ब्योरे के साथ उनका नहीं। कहीं कहीं तो उनके नाम गिनाकर ही काम चला लिया जाता है।

मनुष्यों के रूप, व्यापार या मनोवृत्तियों के सादृश्य, साधर्म्य की दृष्टि से जो प्राकृतिक वस्तु-व्यापार आदि लाए जाते हैं उनका स्थान भी गौण ही समझना चाहिए। वे नर-सम्बन्धी भावना को ही तीव्र करने के लिए रखे जाते हैं।

२. मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का आलम्बन के रूप में ग्रहण हमारे यहाँ संस्कृत के प्राचीन प्रबन्ध-काव्यों के बीच-बीच में ही पाया जाता है। वहाँ प्रकृति का ग्रहण आलम्बन के रूप में हुआ है, इसका पता वर्णन की प्रणाली से लग जाता है। पहले कह आए हैं कि किसी वर्णन में आई हुई वस्तुओं का मन में ग्रहण दो प्रकार का हो सकता है—बिम्बग्रहण और अर्थग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिये हुए सफेद पङ्खड़ियों और झुके हुए नाल आदि के सहित एक फूल की मूर्ति मन में थोड़ी देर के लिए आ जाय या कुछ देर बनी रहे; और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो; केवल पद का अर्थ मात्र समझकर काम चला लिया जाय। काव्य के दृश्य-चित्रण में पहले प्रकार का सङ्केत-ग्रहण अपेक्षित होता है और व्यवहार तथा शास्त्रचर्चा में दूसरे प्रकार का। बिम्बग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि

अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। विना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्योरों पर न दृष्टि जा ही सकती है, न रम ही सकती है। अतः जहाँ ऐसा पूर्ण और संश्लिष्ट चित्रण मिले वहाँ समझना चाहिए कि कवि ने बाह्य प्रकृति को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि का यह हेमन्त वर्णन लीजिए—

अवश्याय-निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनाना शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृपितो वन्यः प्रतिसहरते करम्॥
अवश्याय - तमौनद्धा नीहार - तमसावृतः।
प्रसुता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः॥
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम्॥
जरा-जर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः॥

(वन की भूमि, जिसकी हरी हरी घास ओस गिरने से कुछ कुछ गीली हो गई है, तरुण धूप के पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड़ सिकोड़ लेता है। विना फूल के वन-समूह कुहरे के अन्धकार में सोये से जान पड़ते हैं। नदियाँ, जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है और जिनमें सारस पक्षियों का पता केवल उनके शब्द से लगता है, हिम से आर्द्र बालू के तटों से ही पहचानी जाती हैं। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झर गए हैं, जिनकी केसर-कर्णिकाएँ टूट-फूटकर छितरा गई हैं, पाले से ध्वस्त होकर नाल मात्र खड़े हैं।

मनुष्येतर वाह्य प्रकृति का इसी रूप में ग्रहण कुमारसम्भव के आरम्भ तथा रघुवंश के बीच-बीच में मिलता है। नाटक यद्यपि मनुष्य ही की भीतर वाहरी वृत्तियों के प्रदर्शन के लिए लिखे जाते हैं

और भवभूति अपने मार्मिक और तीव्र अन्तर्वृत्ति विधान के लिए ही प्रसिद्ध हैं, पर उनके 'उत्तर-रामचरित' में कहीं कहीं बाह्य प्रकृति के बहुत ही सांग और संश्लिष्ट खण्ड चित्र पाए जाते हैं। पर मनुष्येतर बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मेघदूत में मिली है वह संस्कृत के और किसी काव्य में नहीं। 'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारतभूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूलकर कभी-कभी मग्न हुआ करता है वह घूम-घूमकर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देशप्रेमी है। मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि।

अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूपों में, कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में; कहीं उग्र कराल या भयङ्कर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसाद के सौरभ-सञ्चार, मकरन्द-लोलुप मधुप-गुञ्जार, कोकिल-कूजित निकुञ्ज और शीतल-सुखस्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमविन्दु-मण्डित मरकताभ-शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गम्भीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविधवर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिये कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण असाधारण सब प्रकार के रूपो में रमानेवाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते हैं। पिछले खेवे के कवियों ने मुक्तक-रचना में तो

अधिकतर प्राकृतिक वस्तुओं का अलग-अलग उल्लेख मात्र उद्दीपन की दृष्टि से किया है। प्रबन्ध रचना में जो थोड़ा-बहुत संश्लिष्ट चित्रण किया है वह प्रकृति की विशेष रूप-विभूति को लेकर ही। अँगरेजी के पिछले कवियों में वड्सवर्थ की दृष्टि सामान्य, चिर-परिचित, सीधे-सादे प्रशान्त और मधुर दृश्यों की ओर रहती थी; पर शेली की असाधारण, भव्य और विशाल की ओर।

साहचर्य-सम्भूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिरपरिचित दृश्यों में कितने माधुर्य्य की अनुभूति होती है! पुराने कवि कालिदास ने वर्षा के प्रथम जल से सिक्त तुरन्त की जोती हुई धरती तथा उसके पास बिखरी हुई भोली चितवनवाली ग्रामवनिताओं में, साफ सुथरे ग्रामचैत्यों और कथा-कोविद ग्राम-वृद्धों में इसी प्रकार के माधुर्य्य का अनुभव किया था। आज भी इसका अनुभव लोग करते है। बाल्य या कौमार अवस्था में जिस पेड़ के नीचे हम अपनी मण्डली के साथ बैठा करते थे, चिड़चिड़ी बुढ़िया की जिस झोंपड़ी के पास से होकर हम आते-जाते थे उसकी मधुर स्मृति हमारी भावना को बराबर लीन किया करती है। बुड्ढी की झोपड़ी में न कोई चमक-दमक थी, न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूस का छप्पर पड़ा था; नींव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर सत्यानासी के नीलाभ-हरित कटीले, कटावदार पौदे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल सम्पुटों के बीच लाल-लाल बिन्दियाँ झलकती थीं।

सारांश यह कि केवल असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौन्दर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंशपरम्परागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय या भावुक कहे जा सकते हैं। वन्य और ग्रामीण दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन है; दोनों पेड़-पौदो, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अतः प्रकृति के अधिक रूपों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। हम पेड़-पौदों और पशु-

पक्षियों के सम्बन्ध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हे हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बन्द करते है और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं; बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्यावँ म्यावँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं, और वासुदेवजी कभी-कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी चूने की कड़ाई की परवा न कर हरी हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि "तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो?"

जो केवल अपने विलास या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूँढ़ा करते हैं उनमें उस रागात्मक "सत्त्व" की कमी है जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव के अन्तर्भूत है। अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावत्मक हृदय भी इस सत्त्व-रस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अन्त में जाकर दोनों पक्षो की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। इस समन्वय के बिना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती हैं।

मार्मिक तथ्य

मनुष्येतर प्रकृति के बीच के रूप-व्यापार कुछ भीतरी भावों या तथ्यो की भी व्यञ्जना करते है। पशु-पक्षियो के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, तोष-क्षोभ, कृपा-क्रोध इत्यादि भावों की व्यञ्जना

जो उनकी आकृति, चेष्टा, शब्द आदि से होती है, वह तो प्रायः बहुत प्रत्यक्ष होती है। कवियों को उन पर अपने भावों का आरोप करने की आवश्यकता प्रायः नहीं होती। तथ्यों का आरोप या सम्भावना अलबत वे कभी-कभी किया करते हैं। पर इस प्रकार का आरोप कभी-कभी कथन को, 'काव्य' के क्षेत्र से घसीटकर 'सूक्ति' या "सुभाषित" के क्षेत्र में डाल देता है। जैसे, 'कौवे सवेरा होते ही क्यों चिल्लाने लगते हैं? वे समझते हैं कि सूर्य अन्धकार का नाश करता बढ़ा आ रहा है, कहीं धोखे में हमारा भी नाश न कर दे।' यह सूक्ति मात्र है, काव्य नहीं। जहाँ तथ्य केवल आरोपित या सम्भावित रहते हैं वहाँ वे अलङ्कार रूप में ही रहते हैं। पर जिन तथ्यों का आभास हमें पशु-पक्षियो के रूप, व्यापार या परिस्थिति में ही मिलता है वे हमारे भावों के विषय वास्तव में हो सकते हैं। मनुष्य सारी पृथ्वी छेंकता चला जा रहा है। जंगल कट-कटकर खेत, गाँव और नगर बनते चले जा रहे हैं। पशु-पक्षियों का भाग छिनता चला जा रहा है। उनके सब ठिकानों पर हमारा निष्ठुर अधिकार होता चला जा रहा है। वे कहाँ जायँ? कुछ तो हमारी गुलामी करते हैं। कुछ हमारी बस्ती के भीतर या आसपास रहते हैं और छीन झपटकर अपना हक ले जाते हैं। हम उनके साथ बराबर ऐसा ही व्यवहार करते हैं मानों उन्हें जीने का कोई अधिकार ही नहीं है। इन तथ्यों का सच्चा अभास हमें उनकी परिस्थिति से मिलता है। अतः उनमें से किसी की चेष्टाविशेष में इन तथ्यों की मार्मिक व्यञ्जना की प्रतीति काव्यानुभूति के अन्तर्गत होगी। यदि कोई बन्दर हमारे सामने से कोइ खाने-पीने की चीज़ उठा ले जाय और किसी पेड़ के ऊपर बैठा-बैठा हमें घुड़की दे, तो काव्यदृष्टि से हमें ऐसा मालूम हो सकता है कि—

देते हैं घुड़की यह अर्थ-ओज-भरी हरि
"जीने का हमारा अधिकार क्या न गया रह!"

पर-प्रतिषेध के प्रसार बीच तेरे, नर !
क्रीडामय जीवन-उपाय है हमारा यह।
दानी जो हमारे रहे, वे भी दास तेरे हुए;
उनकी उदारता भी सकता नहीं तू सह।
फूली फली उनकी उमङ्ग उपकार की तू
छेकता है जाता हम जायँ कहाँ, तूही कह !"।

पेड़-पौदे, लता-गुल्म आदि भी इसी प्रकार कुछ भावों या तथ्यों की व्यञ्जना करते हैं जो कभी-कभी कुछ गूढ़ होती है। सामान्य दृष्टि भी वर्षा की झड़ी के पीछे उनके हर्ष और उल्लास को; ग्रीष्म के प्रचण्ड आतप में उनकी शिथिलता और म्लानता को; शिशिर के कठोर शासन में उनकी दीनता को; मधुकाल में उनके रसोन्माद, उमंग और हास को; प्रबल वात के झकोरों में उनकी विकलता को; प्रकाश के प्रति उनकी ललक को देख सकती है। इसी प्रकार भावुकों के समक्ष वे अपनी रूप चेष्टा आदि द्वारा कुछ मार्मिक तथ्यों की भी व्यञ्जना करते हैं। हमारे यहाँ के पुराने अन्योक्तिकारों ने कहीं-कहीं इस व्यञ्जना की ओर ध्यान दिया है। कहीं-कहीं का मतलब यह है कि बहुत जगह उन्होंने अपनी भावना का आरोप किया है, उनकी रूपचेष्टा या परिस्थिति से तथ्य-चयन नहीं। पर उनकी विशेष-विशेष परिस्थितियों की ओर भावुकता से ध्यान देने पर बहुत से मार्मिक तथ्य सामने आते हैं। कोसों तक फैले कड़ी धूप में तपते मैदान के बीच एक अकेला वट वृक्ष दूर तक छाया फैलाए खड़ा है। हवा के झोंकों से उसकी टहनियाँ और पत्ते हिलहिलकर मानो बुला रहे हैं। हम धूप से व्याकुल होकर उसकी ओर बढ़ते हैं। देखते हैं उसकी जड़ के पास एक गाय बैठी आँख मूँदे जुगाली कर रही है। हम लोग भी उसी के पास आराम से जा बैठते हैं। इतने में एक कुत्ता जीभ बाहर निकाले हाँफता हुआ उस छाया के नीचे आता है और हममें से कोई उठकर उसे छड़ी लेकर भगाने लगता है। इस

परिस्थिति को देख हममें से कोई भावुक पुरुष उस पेड़ को इस प्रकार सम्बोधन करे तो कर सकता है—

काया की न छाया यह केवल तुम्हारी, द्रुम!
अंतस् के मर्म का प्रकाश यह छाया है।
भरी है इसी में वह स्वर्ग स्वप्न-धारा अभी
जिसमें न पूरा-पूरा नर वह पाया है।
शातिसार शीतल प्रसार यह छाया धन्य!
प्रीति सा पसारे इसे कैसी हरी काया है।
हे नर! तू प्यारा इस तरु का स्वरूप देख,
देख फिर घोर रूप तूने जो कमाया है॥

ऊपर नरक्षेत्र और मनुष्येतर सजीव सृष्टि के क्षेत्र का उल्लेख हुआ है। काव्यदृष्टि कभी तो इन पर अलग-अलग रहती है और कभी समष्टि रूप में समस्त जीवन-क्षेत्र पर। कहने की आवश्यकता नहीं कि विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा समष्टि-दृष्टि में अधिक व्यापकता और गम्भीरता रहती है। काव्य का अनुशीलन करनेवाले मात्र जानते हैं कि काव्यदृष्टि सजीव सृष्टि तक ही बद्ध नहीं रहती। वह प्रकृति के उस भाग की ओर भी जाती है जो निर्जीव या जड़ कहलाता है। भूमि, पर्वत, चट्टान, नदी, नाले, टीले, मैदान, समुद्र, आकाश, मेघ, नक्षत्र इत्यादि की रूप-गति आदि से भी हम सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता, भव्यता, विचित्रता, उदासी, उदारता, सम्पन्नता, इत्यादि की भावना प्राप्त करते हैं। कड़कड़ाती धूप के पीछे उमड़ती हुई घटा की श्यामल स्निग्धता और शीतलता का अनुभव मनुष्य क्या पशु-पक्षी, पेड़-पौधे तक करते हैं। अपने इधर-उधर हरी-भरी लहलहाती प्रफुल्लता का विधान करती हुई नदी की अविराम जीवन-धारा में हम द्रवीभूत औदार्य का दर्शन करते हैं। पवत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का, वात-विलोड़ित जलप्रसार में क्षोभ और आकुलता का; विकीर्ण-घन-खण्ड-मण्डित, रश्मि-रञ्जित सांध्य-दिगञ्चल में चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य का; ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते

हुए अंधड़ के प्रचण्ड झोंकों में उग्रता और उच्छृङ्खलता का; बिजली की कँपानेवाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलन्त स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है। ये सब विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं। स्वार्थ भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति-योगी या कवि इनके द्रष्टा मात्र होते हैं।

जड़ जगत् के भीतर पाये जानेवाले रूप, व्यापार या परिस्थितियाँ अनेक मार्मिक तथ्यों की भी व्यञ्जना करती है। जीवन में तथ्यों के साथ उनके साम्य का बहुत अच्छा मार्मिक उद्घाटन कहीं कहीं हमारे यहाँ के अन्योक्तिकारों ने किया है। जैसे, इधर नरक्षेत्र के बीच देखते हैं तो सुख-समृद्धि और सम्पन्नता की दशा में दिन-रात घेरे रहनेवाले, स्तुति का खासा कोलाहल खड़ा करनेवाले, विपत्ति और दुर्दिन में पास नहीं फटकते; उधर जड़ जगत् के भीतर देखते हैं तो भरे हुए सरोवर के किनारे जो पक्षी बराबर कलरव करते रहते हैं वे उसके सूखने पर अपना-अपना रास्ता लेते हैं—

> कोलाहल सुनि खगन के, सरवर ! जनि अनुरागि।
> ये सब स्वारथ के सखा, दुर्दिन दैहैं त्यागि॥
> दुर्दिन दैहैं त्यागि, तोय तेरो जब जैहै।
> दूरहि ते तजि आस, पास कोऊ नहि ऐहै॥

इसी प्रकार सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टिवालों को और गूढ़ व्यञ्जना भी मिल सकती है। अपने इधर-उधर हरियाली और प्रफुल्लता का विधान करने के लिये यह आवश्यक है कि नदी कुछ काल तक एक बँधी हुई मर्यादा के भीतर बहती रहे। वर्षा की उमड़ी हुई उच्छृङ्खलता में पोषित हरियाली और प्रफुल्लता का ध्वंस सामने आता है। पर यह उच्छृङ्खलता और ध्वंस अल्प-कालिक होता है और इसके द्वारा आगे के लिए पोषण की नई शक्ति का सञ्चय होता है। उच्छृङ्खलता नदी की स्थायी वृत्ति नहीं है। नदी के इस स्वरूप के भीतर सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि लोकगति के स्वरूप का साक्षात्कार करती है। लोकजीवन की धारा जब एक बँधे मार्ग पर कुछ काल तक अबाध गति से चलने पाती

है तभी सभ्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास और उसके भीतर सुख-शान्ति की प्रतिष्ठा होती है। जब जीवन-प्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नई शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है जिसके वेग की उच्छृङ्खलता के सामने बहुत कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृङ्खल वेग जीवन का या जगत् का नित्य स्वरूप नहीं है।

(३) पहले कहा जा चुका है कि नरक्षेत्र के भीतर बद्ध रहनेवाली काव्यदृष्टि की अपेक्षा सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र से मार्मिक तथ्यों का चयन करनेवाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गम्भीर कही जायगी। जब कभी हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक होता है कि हम अनन्त व्यक्त सत्ता के भीतर नरसत्ता के स्थान का अनुभव करते हैं तब हमारी पार्थक्य-बुद्धि का परिहार हो जाता है। उस समय हमारा हृदय ऐसी उच्च भूमि पर पहुँचता रहता है जहाँ उसकी वृत्ति प्रशांत और गम्भीर हो जाती है, उसकी अनुभूति का विषय ही कुछ बदल जाता है।

तथ्य चाहे नरक्षेत्र के ही हों, चाहे अधिक व्यापक क्षेत्र के हों, कुछ प्रत्यक्ष होते हैं और गूढ़। जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलम्बन कहना चाहिये। ऐसे रसात्मक तथ्य आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं। फिर ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के सञ्चार के लिए मार्ग खोलता है ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरम्भ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों-ज्यों अन्तःकरण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गई त्यों-त्यों मनुष्य का ज्ञान बुद्धि-व्यवसायात्मक होता गया। अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया

से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसन्धान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यो के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके—कवियों का काम और उच्च काव्य एक लक्षण होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तथ्यो और परिस्थितियों के मार्मिक रूप न जाने कितनी बातो की तह में छिपे होगे।

काव्य और व्यवहार

भावों या मनोविकारों के विवेचन में हम कह चुके हैं कि मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करनेवाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्क-बुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य्य में प्रवृत्त नहीं होते। जहाँ जटिल बुद्धि व्यापार के अनन्तर किसी कर्म का अनुष्ठान देखा जाता है वहाँ भी तह में कोई भाव या वासना छिपी रहती है। चाणक्य जिस समय अपनी नीति की सफलता के लिए किसी निष्ठुर व्यापार में प्रवृत्त दिखाई पड़ता है उस समय वह दया, करुणा आदि सब मनोविकारों या भावो से परे दिखाई पड़ता है। पर थोड़ा अन्तर्दृष्टि गड़ाकर देखने से कौटिल्य को नचानेवाली डोर का छोर भी अन्तःकरण के रागात्मक खण्ड की ओर मिलेगा। प्रतिज्ञा-पूर्ति की आनन्द-भावना और नन्दवंश के प्रति क्रोध या वैर की वासना बारी-बारी से उस डोर को हिलाती हुई मिलेंगी। अर्वाचीन राष्ट्रनीति के गुरु-घण्टाल जिस समय अपनी किसी गहरी चाल से किसी देश की निरपराध जनता का सर्वनाश करते हैं उस समय वे दया आदि दुर्बलताओ से निर्लिप्त, केवल बुद्धि के कठपुतले दिखाइ पड़ते हैं। पर उनके भीतर यदि छानबीन की जाय तो कभी अपने देशवासियों के सुख की उत्कण्ठा, कभी अन्य जाति के प्रति घोर विद्वेष, कभी अपनी जातीय श्रेष्ठता का नया या पुराना घमण्ड, इशारे करता हुआ मिलेगा।

बात यह है कि केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम को करने या न करने के लिए तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसकी या इसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारी भावना में आती है जो आह्लाद, क्रोध, करुणा, भय, उत्कण्ठा आदि का सञ्चार कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिये उद्यत होते हैं। शुद्ध ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नहीं होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिए मन में कुछ वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी जनसमुदाय के बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्र्य और अकाल का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए कङ्काल कल्पना के सम्मुख रखे जायँ और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त क्रन्दन सुनाया जाय तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो सङ्कल्प अवश्य करेंगे। पहले ढंग की बात कहना राजनीतिज्ञ या अर्थशास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का। अतः यह सधारणा कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भावप्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।

उक्त धारणा का आधार यदि कुछ हो सकता है तो यही कि जो भावुक या सहृदय होते हैं, अथवा काव्य के अनुशीलन से जिनके भाव-प्रसार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उनकी वृत्तियाँ उतनी स्वार्थबद्ध नहीं रह सकतीं। कभी-कभी वे दूसरों का जी दुखने के डर से; आत्मगौरव, कुलगौरव या जातिगौरव के ध्यान से, अथवा जीवन के किसी पक्ष की उत्कर्ष-भावना में मौन होकर अपने लाभ के कर्म में अतत्पर या उससे विरत देखे जाते हैं। अतः अथोगम से हृष्ट, 'स्व-कार्यं साधयेत' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकाण्डी,

कानपुर के बनिये और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख्तार, ऐसो को कार्य-भ्रंशकारी मूर्ख, निरे निठल्ले या खब्त-उल-हवास समझ सकते हैं। जिनकी भावना किसी बात के मार्मिक पक्ष का चित्रानुभव करने में तत्पर रहती है, जिनके भाव चराचर, के बीच किसी को भी आलम्बनोपयुक्त रूप या दशा में पाते ही उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं; वे सदा अपने लाभ के ध्यान से या स्वार्थबुद्धि द्वारा ही परिचालित नहीं होते। उनकी यही विशेषता अर्थपरायणों को—अपने काम से काम रखनेवालों को—एक त्रुटि-सी जान पड़ती है! कवि और भावुक हाथ-पैर न हिलाते हों, यह बात नहीं है। पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत-सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होता।

मनुष्यता की उच्च भूमि

मनुष्य की चेष्टाओं और कर्मकलाप से भावों का मूल सम्बन्ध निरूपित हो चुका है और यह भी दिखाया जा चुका है कि कविता इन भावों या मनोविकारों के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई उनका प्रसार करती है। पशुत्व से मनुष्यत्व में जिस प्रकार अधिक ज्ञान-प्रसार की विशेषता है उसी प्रकार अधिक भाव-प्रसार की भी। पशुओं के प्रेम की पहुँच प्रायः अपने जोड़े, बच्चों या खिलाने-पिलानेवालों तक ही होती है। इसी प्रकार उनका क्रोध भी अपने सतानेवालों तक ही जाता है, स्ववर्ग या पशुमात्र को सतानेवालों तक नहीं पहुँचता। पर मनुष्य में ज्ञान-प्रसार के साथ-साथ भाव-प्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है। अपने परिजनों, अपने सम्बन्धियों, अपने पड़ोसियों; अपने देशवासियों क्या मनुष्यमात्र और प्राणिमात्र तक से प्रेम करने भर को जगह उसके हृदय में बन गई है। मनुष्य की त्योरी मनुष्य को ही सतानेवाले पर नहीं चढ़ती, गाय, बैल और कुत्ते-बिल्ली को सताने-वाले पर भी चढ़ती है। पशु की वेदना देखकर भी उसके नेत्र सजल होते हैं। बन्दर को शायद बँदरिया के मुँह में ही सौन्दर्य दिखाई

पड़ता होगा पर मनुष्य पशु-पक्षी, फूल-पत्ते और रेत-पत्थर में भी सौन्दर्य पाकर मुग्ध होता है। इस हृदय-प्रसार का स्मारक स्तम्भ काव्य है जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नया जीवन आ जाता है। हम सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर रसमग्न होने लगते हैं, कोई निष्ठुर कार्य हमें असह्य होने लगता है, हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना बढ़कर सारे संसार में व्याप्त हो गया है।

कवि-वाणी के प्रसाद से हम संसार के सुख-दुख, आनन्द क्लेश आदि का शुद्धस्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बन्धन खुलता है और मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति होती है। किसी अर्थ पिशाच कृपण को देखिए, जिसने केवल अर्थलोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, श्रद्धा, भक्ति, आत्माभिमान, आदि भावों को एकदम दबा दिया है और संसार के मार्मिक पक्ष से मुँह मोड़ लिया है। न सृष्टि के किसी रूपमाधुर्य को देख वह पैसों का हिसाब-किताब भूल कभी मुग्ध होता है, न किसी दीन दुखिया को देख कभी करुणा से द्रवीभूत होता है; न कोई अपमान-सूचक बात सुनकर क्रुद्ध या क्षुब्ध होता है। यदि उससे किसी लोमहर्षण अत्याचार की बात कही जाय तो वह मनुष्य धर्मानुसार क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रुखाई के साथ कहेगा कि "जाने दो, हमसे क्या मतलब; चलो, अपना काम देखें।" यह महा भयानक मानसिक रोग है। इससे मनुष्य आधा मर जाता है। इसी प्रकार किसी महाक्रूर पुलिस कर्मचारी को जाकर देखिए; जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुःख और क्लेश की भावना स्वप्न में भी नहीं होती। ऐसो को सामने पाकर स्वभावतः यह मन में आता है कि क्या इनकी भी कोई दवा है। इनकी दवा कविता है।

कविता ही हृदय को प्रकृति दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए

मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत् के आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।

भावना या कल्पना

इस निबन्ध के आरम्भ में ही हम काव्यानुशीलन को भावयोग कह आए हैं और उसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष बता आए है। यहाँ पर अब यह कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि 'उपासना' भावयोग का ही एक अंग है। पुराने धार्मिक लोग उपासना का अर्थ 'ध्यान' ही लिया करते हैं। जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्यवाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार और भावों के प्रवर्त्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है। जिनकी भावना या कल्पना शिथिल या अशक्त होती है, किसी कविता या सरस उक्ति को पढ़-सुनकर उनके हृदय में मार्मिकता होते हुए भी वैसी अनभूति नहीं होती। बात यह है कि उनके अन्तःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्ति-विधान नहीं होता जो भावों को परिचालित कर देता है। कुछ कवि किसी बात के सारे मार्मिक अंगों का पूरे ब्योरे के साथ चित्रण कर देते हैं, पाठक या श्रोता की कल्पना के लिए बहुत कम काम छोड़ते हैं और कुछ कवि कुछ मार्मिक खण्ड रखते हैं जिन्हें पाठक की तत्पर कल्पना आपसे आप पूर्ण करती है।

कल्पना दो प्रकार की होती है—विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर

ग्राहक। अधिकतर कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता वहाँ पाठक या श्रोता को भी अपनी ओर से कुछ मूर्ति-विधान करना पड़ता है। योरपीय साहित्य-मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन, पर है साधन ही, साध्य नहीं, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। किसी प्रसग के अन्तर्गत कैसा ही विचित्र मूर्ति-विधान हो पर यदि उसमें उपयुक्त भावसञ्चार की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के अन्त त न होगा।

मनोरञ्जन

प्रायः सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरञ्जन है। पर जैसा कि हम पहले कह आए हैं कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामञ्जस्य-स्थापन है। इतने गम्भीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरञ्जन का हलका उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते हैं वे रास्ते ही में रह जानेवाले पथिक के समान हैं। कविता पढ़ते समय मनोरञ्जन अवश्य होता है, पर उसके उपरान्त कुछ और भी होता है और वही और सब कुछ है। मनोरञ्जन वह शक्ति है जिससे कविता अपना प्रभाव जमाने के लिए मनुष्य की चित्र-वृत्ति को स्थित किए रहती है, उसे इधर-उधर जाने नहीं देती। अच्छी से अच्छी बात को भी कभी-कभी लोग केवल कान से सुन भर लेते हैं, उनकी ओर उनका मनोयोग नहीं होता। केवल यही कहकर कि 'परोपकार करो', 'दूसरों पर दया करो,' 'चोरी करना महापाप है,' हमें यह आशा कदापि न करनी चाहिए कि कोई अपकारी उपकारी, कोई क्रूर दयावान् या कोई चोर साधु हो जायगा। क्योंकि ऐसे वाक्यों के अर्थ की पहुँच हृदय तक होती ही नहीं, वह ऊपर ही ऊपर रह जाता है। ऐसे वाक्यों द्वारा सूचित व्यापारों का मानव-जीवन के बीच कोई मार्मिक चित्र सामने न पाकर हृदय उनकी अनुभूति की ओर प्रवृत्त ही नहीं होता।

पर कविता अपनी मनोरञ्जन-शक्ति द्वारा पढ़ने या सुननेवाले का चित्त रमाए रहती है, जीवन-पट पर उक्त कर्मों की सुन्दरता या विरूपता अङ्कित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है। मनुष्य के कुछ कर्मों में जिस प्रकार दिव्य सौन्दर्य और माधुर्य होता है उसी प्रकार कुछ कर्मों में भीषण कुरूपता और भद्दापन होता है। इसी सौन्दर्य या कुरूपता का प्रभाव मनुष्य के हृदय पर पड़ता है और इस सौन्दर्य या कुरूपता का सम्यक् प्रत्यक्षीकरण कविता ही कर सकती है।

कविता की इसी रमानेवाली शक्ति को देख कर जगन्नाथ पंडितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरपीय समीक्षकों ने 'आनन्द' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अन्तिम गन्तव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ। मनोरञ्जन या आनन्द तो बहुत सी बातों में हुआ करता है। किस्सा-कहानी सुनने में भी तो पूरा मनोरञ्जन होता है, लोग रात-रात भर सुनते रह जाते हैं। पर क्या कहानी सुनना और कविता सुनना एक ही बात है? हम रसात्मक कथाओं या आख्यानों की बात नहीं कहते हैं; केवल घटना वैचित्र्य-पूर्ण कहानियों की बात कहते हैं। कविता और कहानी का अन्तर स्पष्ट है। कविता सुननेवाला किसी भाव में मग्न रहता है और कभी-कभी बार-बार एक ही पद्य सुनना चाहता है। पर कहानी सुननेवाला आगे की घटना के लिए आकुल रहता है। कविता सुननेवाला कहता है, "ज़रा फिर तो कहिए।" कहानी सुननेवाला कहता है, "हाँ! तब क्या हुआ?"

मन को अनुरञ्जित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना, ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझकर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जायगा? क्या इससे गम्भीर कोई उद्देश्य उनका न था? खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत दिनो से बहुत से लोग कविता को विलास की सामग्री

समझते आ रहे हैं। हिन्दी के रीति-काल के कवि तो मानो राजाओं-महाराजाओं की काम-वासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे। गर्मी के मौसम के लिए एक कविजी व्यवस्था करते हैं—

सीतल गुलाब-जल भरि चहबच्चन में,
डारि कै कमलदल न्हायबे को धँसिए।
कालिदास अंग अंग अगर अतर सङ्ग,
केसर उसीर नीर घनसार घँसिए॥
जेठ मे गोविंद लाल चन्दन के चहलन,
भरि भरि गोकुल के महलन बसिए।

इसी प्रकार शिशिर के मसाले सुनिए—

गुलगुली गिलमैं, गलीचा है, गुनीजन हैं,
चिक हैं, चिराकैं हैं, चिरागन की माला है।
कहै पदमाकर है गजक गजा हू सजी,
सज्जा है, सुरा है, सुराही हैं, सुप्याला हैं॥
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं॥

सौन्दर्य

सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती है जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर

के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी प्रतीति या जिनकी भावना हमारे मन में कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति सी जान पड़ती है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही बाहर है।

यही बाहर हँसता-खेलता, रोता-गाता, खिलता-मुरझाता जगत् भीतर भी है जिसे हम मन कहते हैं। जिस प्रकार यह जगत् रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का सङ्घात ही है। रूप मन और इन्द्रियों द्वारा सङ्घटित है या मन और इन्द्रियाँ रूपों द्वारा इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। हमें तो केवल यही कहना है कि हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप मे जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौन्दर्य की अनुभूति कही जायगी। जिस प्रकार की रूपरेखा या वर्णविन्यास से किसी की तदाकार-परिणति होती है उसी प्रकार की रूपरेखा या वर्ण-विन्यास उसके लिए सुन्दर है। मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुँची हुई संसार की सब सभ्य जातियों में सौन्दर्य के सामान्य आदर्श प्रति-ष्ठित हैं। भेद अधिकतर अनुभूति की मात्रा में पाया जाता है। न सुन्दर को कोई एकबारगी कुरूप कहता है और न बिलकुल कुरूप को सुन्दर। जैसा कि कहा जा चुका है, सौन्दर्य का दर्शन मनुष्य मनुष्य ही में नहीं करता है, प्रत्युत पल्लव-गुम्फित पुष्पहास में, पक्षियों के पक्ष-जाल में, सिन्दूराभ सान्ध्य दिगञ्चल के हिरण्य-मेखला-मण्डित घनखण्ड

में, तुषारावृत तुंग गिरि-शिखर में, चन्द्रकिरण से झलझलाते निर्झर में और न जाने कितनी वस्तुओं में वह सौन्दर्य की झलक पाता है।

जिस सौन्दर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है वह अवश्य एक दिव्य विभूति है। भक्त लोग अपनी उपासना या ध्यान में इसी विभूति का अवलम्बन करते हैं। तुलसी और सूर ऐसे सगुणोपासक भक्त राम और कृष्ण की सौन्दर्य-भावना में मग्न होकर ऐसी मंगल-दशा का अनुभव कर गए हैं जिसके सामने कैवल्य या मुक्ति की कामना का कहीं पता नहीं लगता।

कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुखमण्डल आदि का सौन्दर्य मन में लाती है उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौन्दर्य भी मन में जमाती है। जिस प्रकार वह शव को नोचते हुए कुत्तों और शृगालों के वीभत्स व्यापार की झलक दिखाती है उसी प्रकार क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या आदि की कुरूपता से भी क्षुब्ध करती है। इस कुरूपता का अवस्थान सौन्दर्य की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए ही समझना चाहिए। जिन मनोवृत्तियों का अधिकतर बुरा रूप हम संसार में देखा करते हैं उनका भी सुन्दर रूप कविता ढूँढ़कर दिखाती है। दशवदन-निधनकारी राम के क्रोध के सौन्दर्य पर कौन मोहित न होगा ?

जो कविता रमणी के रूपमाधुर्य से हमें तृप्त करती है, वही उसकी अन्तर्वृत्ति की सुन्दरता का आभास देकर हमें मुग्ध करती है। जिस वंकिम की लेखनी ने गढ़ पर वैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग-प्रत्यंग की सुषमा को अङ्कित किया है उसी ने नवाबनन्दिनी आयशा के अन्तस् की अपूर्व सात्त्विकी ज्योति की झलक दिखाकर पाठकों को चमत्कृत किया है। जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के वीच वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि की रूप-विभूति से हम सौन्दर्य-मग्न होते हैं उसी प्रकार

अन्तःप्रकृति में दया, दाक्षिण्य, श्रद्धा, भक्ति आदि वृत्तियों की स्निग्ध शीतल आभा में सौन्दर्य लहराता हुआ पाते हैं। यदि कहीं बाह्य और आभ्यन्तर दोनों सौन्दर्यों का योग दिखाई पड़े तो फिर क्या कहना है! यदि किसी अत्यन्त सुन्दर पुरुष की धीरता, वीरता, सत्यप्रियता आदि अथवा किसी अत्यन्त रूपवती स्त्री की सुशीलता, कोमलता और प्रेम-परायणता आदि भी सामने रख दी जायँ तो सौन्दर्य की भावना सर्वांगपूर्ण हो जाती है।

सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला बुरा, शुभ अशुभ, पाप पुण्य, मंगल अमंगल, उपयोगी अनुपयोगी—ये सब शब्द काव्यक्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्यक्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी; न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं—सुन्दर और असुन्दर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है कवि उसके सौन्दर्य-पक्ष पर आप ही मुग्ध रहता है और दूसरो को भी मुग्ध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल समझता है उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुन्दर कहता है। दृष्टिभेद अवश्य है। धार्मिक की दृष्टि जीव के कल्याण, परलोक में सुख, भवबन्धन से मोक्ष आदि की ओर रहती है। पर कवि की दृष्टि इन सब बातों की ओर नहीं रहती। वह उधर देखता है जिधर सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। इतनी सी बात ध्यान में रखने से ऐसे-ऐसे झमेलों में पड़ने की आवश्यकता बहुत कुछ दूर हो जाती है कि "कला में सत् असत्, धर्माधर्म का विचार होना चाहिए या नहीं", "कवि को उपदेशक बनना चाहिए या नहीं"।

कवि की दृष्टि तो सौन्दर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओं के रूपरंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में। उत्कर्ष-साधन के लिए, प्रभाव की वृद्धि के लिए, कवि लोग कई प्रकार के सौन्दर्यों का मेल भी किया करते हैं। राम की रूपमाधुरी और

रावण की विकरालता भीतर का प्रतिबिम्ब सी जान पड़ती है। मनुष्य के भीतरी बाहरी सौन्दर्य के साथ चारों ओर की प्रकृति के सौन्दर्य को भी मिला देने से वर्णन का प्रभाव कभी-कभी बहुत बढ़ जाता है चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान में राम और भरत ऐसे रूपवानों की रम्य अन्तःप्रकृति की छटा का क्या कहना है!

चमत्कारवाद

काव्य के सम्बन्ध में 'चमत्कार', 'अनूठापन' आदि शब्द बहुत दिनों से लाए जाते हैं। चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है, इसमें सन्देह नहीं। इससे जो लोग मनोरञ्जन को ही काव्य का लक्ष्य समझते हैं वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूँढ़ा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊँचा और गम्भीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते। 'चमत्कार' से हमारा अभिप्राय यहाँ प्रस्तुत वस्तु के अद्भुतत्व या वैलक्षण्य से नहीं जो अद्भुत रस के आलम्बन में होता है। 'चमत्कार' से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है जिसके अन्तर्गत वर्णविन्यास की विशेषता (जैसे, अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में), वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे, काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।

चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते हैं, पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए। जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और उसी मात्रा में उसकी व्यञ्जना के लिए प्रायः कवियों को व्यञ्जना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है। बातचीत में भी देखा जाता है कि कभी-कभी हम किसी को मूर्ख

न कहकर 'बैल' कह देते हैं। इसका मतलब यही है कि उसकी मूर्खता की जितनी गहरी भावना मन में है वह 'मूर्ख' शब्द से नहीं व्यक्त होती। इसी बात को देखकर कुछ लोगों ने यह निश्चय किया कि यही चमत्कार या उक्तिवैचित्र्य ही काव्य का नित्य लक्षण है। इस निश्चय के अनुसार कोई वाक्य, चाहे वह कितना ही मर्मस्पर्शी हो, यदि उक्ति-वैचित्र्यशून्य है तो काव्य के अन्तर्गत न होगा और कोई वाक्य जिसमें किसी भाव या मर्म-विकार की व्यञ्जना कुछ भी न हो पर उक्तिवैचित्र्य हो, वह खासा काव्य कहा जायगा। उदाहरण के लिए पद्माकर का यह सीधा-सादा वाक्य लीजिए—

"नैन नचाय कही मुसकाय 'लला फिर आइयो खेलन होली'।"

अथवा मण्डन का यह सवैया लीजिए—

अलि ! हौं तौ गई जमुना-जल को,
सो कहा कहौं, वीर ! विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई,
इतनेई में गागर सीस धरी ॥
रपट्यौ पग, घाट चढ्यो न गयो,
कवि मंडन ह्वै कै बिहाल गिरि।
चिरजीवहु नंद को बारो अरी,
गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी ॥

इस प्रकार ठाकुर की यह अत्यन्त स्वाभाविक वितर्क-व्यंजना देखिए—

वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वैहै।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वैहै ॥
ठाकुर या मन को परतीति है, जौ पै सनेह न मानति ह्वैहै।
आवत हैं नित मेरे लिए; इतनो तो विसेष कै जानति ह्वैहै ॥

मण्डन ने प्रेम-गोपन के जो वचन कहलाए हैं वे ऐसे ही हैं जैसे जल्दी में स्वभावतः मुँह से निकल पड़ते हैं। उनमें विदग्धता की अपेक्षा स्वाभाविकता कहीं अधिक झलक रही है। ठाकुर के सवैये में

भी अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर नये प्रेमी के चित्त के वितर्क की सीधे-सादे शब्दों में, बिना किसी वैचित्र्य या लोकोत्तर चमत्कार के, व्यञ्जना की गई है। क्या कोई सहृदय वैचित्र्य के अभाव के कारण कह सकता है कि इनमें काव्यत्व नहीं है?

अब इनके सामने उन केवल चमत्कारवाली उक्तियों का विचार कीजिए जिनमें कहीं कोई कवि किसी राजा की कीर्ति की धवलता चारों ओर फैलती देख यह आशङ्का प्रकट करता है कि कहीं मेरी स्त्री के बाल भी सफ़ेद न हो जायँ अथवा प्रभात होने पर कौवों के काँव-काँव का कारण यह भय बताता है कि कालिमा या अन्धकार का नाश करने में प्रवृत्त सूर्य कहीं उन्हें काला देख उनका भी नाश न कर दे भोज-प्रबन्ध तथा और-और सुभाषित-सग्रहों में इस प्रकार की उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। केशव की रामचन्द्रिका में पचीसों ऐसे पद्य हैं जिनमें अलंकारों की भद्दी भरती के चमत्कार के सिवा हृदय को स्पर्श करने वाली या किसी भावना में मग्न करनेवाली कोई बात न मिलेगी। उदाहरण के लिए पताका और पंचवटी के ये वर्णन लीजिए।

पताका

अति सुन्दर अति साधु। थिर न रहति पल आधु।
परम तपोमय मानि। दंडधारिणी जानि॥

पंचवटी

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै।
पाडव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ॥
है सुभगा सम दीपति पूरी। सिंदूर और तिलकावलि रूरी।
राजति है यह ज्यों कुलकन्या। धाय विराजति है सँग धन्या॥

क्या कोई भावुक इन उक्तियों को शुद्ध काव्य कह सकता है? क्या ये उसके मर्म का स्पर्श कर सकती हैं?

ऊपर दिये हुए अवतरणों में हम अस्पष्ट देखते हैं कि किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरलता बराबर पाई जायगी। पर यदि कोरा वैचित्र्य या चमत्कार ही चमत्कार तो थोड़ी दूर के लिए कुछ कुतूहल या मनबहलाव चाहे हो जाय पर काव्य को लीन करनेवाली सरसता न पाई जायगी। केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है। कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है। यदि सब प्रकार की कविता में केवल आश्चर्य या कुतूहल का ही संचार मानें तब तो अलग-अलग स्थाई भावों की रसरूप में अनुभूति और भिन्न-भिन्न भावों के आश्रयों के साथ तादात्म्य का कहीं प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

यह बात ठीक है कि हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके मर्म का जो स्पर्श होता है, वह उक्ति ही के द्वारा। पर उक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सदा विचित्र, अद्‌भुत या लोकोत्तर हो—ऐसी हो जो सुनने में नहीं आया करती या जिसमें बड़ी दूर की सूझ होती है। ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि) में लीन न होकर एकबारगी कथन से अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है। बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ध्यान में रहना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।

यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हो तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है। जहाँ उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में होने पर भी उसकी

तह में रहनेवाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता वहाँ भी काव्य ही माना जायगा। जैसे, देव का यह सवैया लीजिए—

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥
देव जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जो लियो हरि जू हरि॥

सवैये का अर्थ यह है कि वियोग में उस नायिका के शरीर को संघटित करनेवाले पंचभूत धीरे-धीरे निकलते जा रहे हैं। वायु दीर्घ निःश्वासों के द्वारा निकल गई, जलतत्त्व सारा आँसुओ ही आँसुओं में ढल गया, तेज भी न रह गया—शरीर की सारी दीप्ति या कान्ति जाती रही, पार्थिव तत्त्व के निकल जाने से शरीर भी क्षीण हो गया; अब तो उसके चारों ओर आकाश ही आकाश रह गया है—चारों ओर शून्य दिखाई पड़ रहा है। जिस दिन से श्रीकृष्ण ने उसकी ओर मुँह फेरकर ताका है और मन्द मन्द हँसकर उसके मन को हर लिया है उसी दिन से उसकी यह दशा है।

इस वर्णन में देवजी ने विरह की भिन्न-भिन्न दशाओं में चार भूतों के निकलने की बड़ी सटीक उद्भावना की है। आकाश का अस्तित्व भी बड़ी निपुणता से चरितार्थ किया है। यमक अनुप्रास आदि भी है। सारांश यह कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून की पूरी बन्दिश है, पूरा चमत्कार या अनूठापन है। पर इस चमत्कार के बीच में भी विरह-वेदना स्पष्ट झलक रही है, उसकी चकाचौंध में अदृश्य नहीं हो गई है। इसी प्रकार मतिराम के इस सवैये की पिछली दो पंक्तियो में वर्षा के रूपक का जो व्यंग्य-चमत्कार है वह भाव शबलता के साथ अनूठे ढंग से गुम्फित है—

दोऊ आनन्द सों आँगन माँझ बिराजैं
असाढ़ की साँझ सुहाई।

प्यारी के बूझत और तिया को
अचानक नाम लियो रसिकाई ॥
आई उनै मुँह मे हँसी,
कोहि तिया पुनि चाँप सी भौंह चढ़ाई ।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद,
सुहाग गयो उड़ि हंस की नाई ॥

इसके विरुद्ध बिहारी की उन उक्तियों में जिनमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाते ले जाते शीशी का गुलाबजल सूख जाता है; उसके विरह ताप की लपट के मारे माघ के महीने में भी पड़ोसियों का रहना कठिन हो जाता है, कृशता के कारण विरहिणी साँस खींचने के साथ दो-चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के साथ दो-चार हाथ आगे उड़ जाती है, अत्युक्ति का एक बड़ा तमाशा ही खड़ा किया गया है। कहाँ यह सब मजाक, कहाँ विरह वेदना !

यह कहा जा चुका है कि उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अकसर कथन के ढङ्ग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर रहती है। उसका अनूठापन भाव-विधान के बाहर की वस्तु नहीं। उदाहरण के लिए दासजी की ये विरहदशा-सूचक उक्तियाँ लीजिए—

अब तौ बिहारी के वे बानक गए री,
तेरी तन-दुति-केसर को नैन कसमीर भो।
श्रौन तुव बानी स्वाति बूँदन के चातक भे,
साँसन को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो।
हिय को हरष मरुधरनि को नीर भो,
री ! जियरो मनोभव-शरन को तुनीर भो।
ए री ! बेगि करिकै मिलापु थिर थापु,
न तौ आपु अब चहत अतनु को सरीर भो ॥

ऐसी ही भाव-प्रेरित वक्रता द्विजदेव की इस मनोहर उक्ति में है—

तू जो कही, सखी ! लोनो सरूप,
सो मो अखियान को लोनी गई लगि ।

प्रेम के स्फुरण की विलक्षण अनुभूति नायिका को हो रही है—कभी आँसू आते हैं, कभी अपनी दशा पर अचरज होता है, कभी हलकी सी हँसी भी आ जाती है कि अच्छी बला मैंने मोल ली। इसी बीच अपनी अन्तरग सखी को सामने पाकर किञ्चित विनोद-चातुरी की भी प्रवृत्ति होती है। ऐसी जटिल अन्तर्वृत्ति द्वारा प्रेरित उक्ति में विचित्रता आ ही जाती है। ऐसी चित्र-वृत्तियों के अवसर घड़ी-घड़ी नहीं आया करते। सूरदासजी का 'भ्रमरगीत' ऐसी भाव-प्रेरित वक्र उक्तियों से भरा पड़ा है।

उक्ति की वहीं तक की वचनभगी या वक्रता के सम्वन्ध में हमसे कुन्तलजी का "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" मानते वनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो; उसके आगे नहीं। कुन्तलजी की वक्रता बहुत व्यापक है जिसके अन्तर्गत वे वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनो लेते हैं। सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में वे काव्यत्व मानते हैं योरप मे भी आजकल क्रोस के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद जोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षणा-प्रधान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता में ही, उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यञ्जक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यञ्जना करनेवाला वाक्य। वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमे कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यञ्जना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो। पर जैसा कि हम कह चुके हैं, मनोरंजन मात्र काव्य का उद्देश्य न माननेवाले उनकी इस बात का समर्थन करने मे असमर्थ होगे। वे किसी लक्षणा म उसका प्रयोजन अवश्य ढूँढ़ेंगे।

कविता की भाषा

कविता में कही गई बात चित्र-रूप में हमारे सामने आनी चाहिए, यह हम पहले कह आए है। अतः उसमें गोचर रूपो का विधान अधिक होता है। वह प्रायः ऐसे रूपों और व्यापारो को ही लेती है जो स्वाभाविक होते हैं और संसार में सबसे अधिक मनुष्यों को सबसे अधिक दिखाई पड़ते हैं।

अगोचर बातों या भावनाओ को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्ति-विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे, "समय बीता जाता है" कहने की अपेक्षा "समय भागा जाता है" कहना वह अधिक पसन्द करेगी। किसी काम से हाथ खीचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना, उदासी टपकना इत्यादि ऐसी ही कवि-समय-सिद्ध उक्तियाँ हैं जो बोलचाल में रूढ़ि होकर आ गई है। लक्षणा-द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार-प्रदान का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) धन्य भूमि बनपंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा।—तुलसी।

(ख) मनहु उमगि अँग अँग छबि छलकै।—तुलसी।

(ग) चूनरि चारु चुई सी परै।

(घ) बनन में बागन में बगरो बसन्त है।—पद्माकर।

(ङ) बृन्दाबन-बागन पै बसन्त बरसो परै।—पद्माकर।

(च) हौं तो श्यामरंग में चोराय, चित्त चोराचोरी बोरत तो बोर्‌यो पै निचोरत बनै नहीं।—पद्माकर।

(छ) एहो नन्दलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलो, तौ चलौ, जोरे जुरि जायगो।

कहै पद्माकर नहीं तौ ये झकोरे लगे,
ओरे लौं अचाका विनु घोरे घुरि जायगी।
तौ ही लगि चैन जौ लौं चेति है न चन्दमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति के अनुरूप व्यञ्जना के लिए लक्षणा का बहुत कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।

भावना को मूर्त्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जातिसङ्केतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं। वहुत से ऐसे शब्द होते हैं जिनसे किसी एक का नहीं वल्कि वहुत से रूपों या व्यापारों का एक साथ चलता सा अर्थग्रहण हो जाता है। ऐसे शब्दों को हम जाति-संकेत कह सकते हैं। ये मूर्त्त विधान के प्रयोजन के नहीं होते। किसी ने कहा "वहाँ वड़ा अत्याचार हो रहा है"। इस अत्याचार शब्द के अन्तर्गत मारना-पीटना, डाँटना-डपटना, लूटना-पाटना इत्यादि वहुत से व्यापार हो सकते हैं, अतः 'अत्याचार' शब्द के सुनने से उन सव व्यापारों की एक मिली-जुली अस्पष्ट भावना थोड़ी देर के लिए मन में आ जाती है; कुछ विशेष व्यापारों का स्पष्ट चित्र या मूर्त्त रूप नहीं खड़ा होता। इससे ऐसे शब्द कविता के उतने काम के नहीं। ये तत्त्व-निरूपण, शास्त्रीय विचार आदि में ही अधिक उपयोगी होते हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में वहुत से शब्द तो विलक्षण ही अर्थ देते हैं और पारिभाषिक कहलाते हैं। शास्त्र-मीमांसक या तत्त्व-निरूपक को किसी सामान्य तथ्य या तत्त्व तक पहुँचने की जल्दी रहती है इससे वह किसी सामान्य धर्म के अन्तर्गत आनेवाली वहुत सी वातो को एक मानकर अपना काम चलाता है, प्रत्येक का अलग-अलग दृश्य देखने-दिखाने में नही उलझता।

पर कविता कुछ वस्तुओं और व्यापारों को मन के भीतर मूर्त्त रूप में लाना और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कुछ देर रखना चाहती

है। अतः उक्त प्रकार के व्यापक अर्थ संकेतों से ही उसका काम नहीं चल सकता। इससे जहाँ उसे किसी स्थिति का वर्णन करना रहता है वहाँ वह उसके अन्तर्गत सबसे अधिक मर्मस्पर्शिनी कुछ विशेष वस्तुओं या व्यापारों को लेकर उनका चित्र खड़ा करने का आयोजन करती है। यदि कहीं के घोर अत्याचार का वर्णन करना होगा तो वह कुछ निरपराध व्यक्तियों के वध, भीषण यन्त्रणा, स्त्री-बच्चों पर निष्ठुर प्रहार आदि का क्षोभकारी दृश्य सामने रखेगी। "वहाँ घोर अत्याचार हो रहा है" इस वाक्य द्वारा वह कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकती। अत्याचार शब्द के अन्तर्गत न जाने कितने व्यापार आ सकते हैं, अतः उसे सुनकर या पढ़कर सम्भव है कि भावना में एक भी व्यापार स्पष्ट रूप से न आए या आए भी तो ऐसा जिसमें मर्म को क्षुब्ध करने की शक्ति न हो।

उपर्युक्त विचार से ही किसी व्यवहार या शास्त्र के पारिभाषिक शब्द भी काव्य में लाए जाने योग्य नहीं माने जाते। हमारे यहाँ के आचार्यो ने पारिभाषिक शब्दो के प्रयोग को 'अप्रतीतत्व' दोष माना है। पर दोष स्पष्ट होते हुए भी चमत्कार के प्रेमी कब मान सकते हैं? संस्कृत के अनेक कवियों ने वेदान्त, आयुर्वेद, न्याय के पारिभाषिक शब्दों को लेकर बड़े-बड़े चमत्कार खड़े किये हैं या अपनी बहुज्ञता दिखाई है। हिन्दी के किसी मुक़द्दमेबाज़ कवित्त कहनेवाले ने "प्रेमफ़ौजदारी" नाम की एक छोटी सी पुस्तक में शृंगाररस की बातें अदालती कार्रवाइयों पर घटाकर लिखी हैं। "एकतरफ़ा डिगरी," "तनकीह" ऐसे-ऐसे शब्द चारों ओर अपनी बहार दिखा रहे हैं, जिन्हें सुनकर कुछ अशिक्षित या भद्दी रुचिवाले वाह-वाह भी कर देते हैं।

शास्त्र के भीतर निरूपित तथ्य को भी जब कोई कवि अपनी रचना के भीतर लेता है तब वह पारिभाषिक तथा अधिक व्याप्तिवाले जाति-संकेत शब्दों को हटाकर उस तथ्य को व्यंजित करनेवाले कुछ विशेष मार्मिक रूपों और व्यापारों का चित्रण करता है। कवि

गोचर और मूर्त्त रूपों के द्वारा ही अपनी बात कहता है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदासजी के ये वचन लीजिए—

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपापात्र जन जागें।

इसमें माया में पड़े हुए जीव की अज्ञानदशा का काव्य-पद्धति पर कथन है। और देखिये। प्राणी आयु भर क्लेश-निवारण और सुखप्राप्ति का प्रयास करता रह जाता है और कभी वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त नहीं करता, इस बात को गोस्वामीजी यों सामने रखते हैं—

डासत ही गई बीति निसा सब,
कबहुँ न नाथ! नींद भरि सोयो।

भविष्य का ज्ञान अत्यन्त अद्‌भुत और रहस्मय है जिसके कारण प्राणी आनेवाली विपत्ति की कुछ भी भावना न करके अपनी दशा में मग्न रहता है। इस बात को गोस्वामीजी ने "चरै हरित तृन बलिपशु" इस चित्र द्वारा व्यक्त किया है। अँगरेज कवि पोप ने भी भविष्य के अज्ञान का यही मार्मिक चित्र लिया है, यद्यपि उसने इस अज्ञान को ईश्वर का बड़ा भारी अनुग्रह कहा है—

उस बलिपशु को देख आज जिसका तू, रे नर!
अपने रँग में रक्त बहाएगा वेदी पर।
होता उसको ज्ञान कहीं तेरा है जैसा,
क्रीड़ा करता कभी उछलता फिरता ऐसा?
अन्तकाल तक हरा-हरा चारा चभलाता।
हनन हेतु उसे उठे हाथ को चाटे जाता।
आगम का अज्ञ न ईश का परम अनुग्रह ॥*

---

* The lamp thy riot dooms to bleed to day,
Had he the reason, would he skip and play,
Pleased to the last he crops the flaw, ry food
And licks the hand just raised to shed his blood,
The blindness to the future kindly given.

Essay on Man.

बातचीत में जब किसी को अपने कथन द्वारा कोई मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करना होता है तब वह इसी पद्धति का अवलम्बन करता है। यदि अपनी पत्नी पर अत्याचार करनेवाले किसी व्यक्ति को उसे समझाना है तो वह कहेगा कि "तुमने इसका हाथ पकड़ा है"; यह न कहेगा कि "तुमने इसके साथ विवाह किया है।" 'विवाह' शब्द के अन्तर्गत न जाने कितने विधि-विधान हैं जो सबके सब एकबारगी मन में आ भी नहीं सकते और उतने व्यंजक या मर्मस्पर्शी भी नहीं होते। अतः कहनेवाला उनमें से जो सबसे अधिक व्यंजक और स्वाभाविक व्यापार "हाथ पकड़ना" है, जिससे सहारा देने का चित्र सामने आता है, उसे भावना में लाता है।

तीसरी विशेषता कविता की भाषा में वर्ण-विन्यास की है। "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" और "नीरसतरुरिह विलसति पुरतः" का भेद हमारी पण्डित-मण्डली में बहुत दिनो से प्रसिद्ध चला आता है। काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त्त विधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ-कछ सहारा लेती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्तविधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद-सौन्दर्य-साधन के लिए ही हैं। नाद-सौष्ठव के निमित्त निरूपित वर्ण-विशिष्टता को हिन्दी के हमारे कुछ पुराने कवि इतनी दूर तक घसीट ले गए कि उनकी बहुत-सी रचना बेडौल और भावशून्य हो गई। उसमें अनुप्रास की लम्बी लड़ी—वर्ण-विशेष की निरन्तर आवृत्ति—के सिवा और किसी बात पर ध्यान नहीं जाता। जो बात भाव या रस की धारा का मन के भीतर अधिक प्रसार करने के लिए थी, वह अलग चमत्कार या तमाशा खड़ा करने के लिए काम में लाई गई।

नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है। तालपत्र, भोजपत्र कागज़ आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनो तक लोगो की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत सी उक्तियों को लोग, उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाए

बिना ही, प्रसन्न-चित्त रहने पर गुनगुनाया करते हैं। अतः नाद-सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिलकुल हटा नहीं सकते। जो अन्त्यानुप्रास को फालतू समझते हैं वे छन्द को पकड़े रहते हैं, जो छन्द को भी फालतू समझते हैं वे लय में ही लीन होने का प्रयास करते हैं। संस्कृत से सम्बन्ध रखनेवाली भाषाओं में नाद-सौन्दर्य के समावेश के लिए बहुत अवकाश रहता है। अतः अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं की देखादेखी, जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को हम विशेषता से वंचित कैसे कर सकते हैं?

हमारी काव्यभाषा में एक चौथी विशेषता भी है जो संस्कृत से ही आई है। वह है कि कहीं-कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप-गुण या कार्य-बोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। ऊपर से देखने में तो पद्य के नपे हुए चरणों में शब्द खपाने के लिए ही ऐसा किया जाता है, पर थोड़ा विचार करने पर इससे गुरुतर उद्देश्य प्रकट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिए की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत हैं, जिनसे कविता की पूर्ण परिपोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक और अर्थगर्भित होने के कारण सुननेवाले की भावना के निर्माण में योग देते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबन्धु, चक्रपाणि, मुरलीधर, सव्यसाची इत्यादि शब्द ऐसे ही हैं।

ऐसे शब्दों को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रकरण-विरुद्ध या अवसर के प्रतिकूल न हों। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए "हे गोपिकारमण! हे वृन्दावन विहारी!" आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा "हे मुरारि! हे कंसनिकन्दन!" आदि संबोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है; क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा

कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा होती है, न कि उनका वृन्दावन में गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को "मुरलीधर" कहकर पुकारने की अपेक्षा "गिरिधर" कहना अधिक अर्थसंगत है।

अलंकार

कविता में भाषा की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है; कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को भी घुमा-फिराकर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं। इनके सहारे से कविता अपना प्रभाव बहुत कुछ बढ़ाती है। कहीं-कहीं तो इनके बिना काम ही नहीं चल सकता। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य को भुलाकर इन्हीं को साध्य मान लेने से कविता का रूप कभी-कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता ही नहीं रह जाती। पुरानी कविता में कहीं-कहीं इस बात के उदाहरण मिल जाते हैं।

अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों (जैसे, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में) चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में (जैसे; अप्रस्तुत-प्रशंसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध इत्यादि मे), चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में (जैसे, अनुप्रास में) लाए जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिए ही। मुख के वर्णन में जो कमल, चन्द्र आदि सामने रखे जाते हैं वह इसी लिए जिनमें इनकी वर्णरुचिरता, कोमलता,

दीप्ति इत्यादि के योग से सौन्दर्य की भावना और बढ़े। सादृश्य या साधर्म्य दिखाना उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि का प्रकृत लक्ष्य नहीं है। इस बात को भूलकर कवि परम्परा में बहुत से ऐसे उपमान चला दिए गए हैं जो प्रस्तुत भावना में सहायता पहुँचाने के स्थान पर बाधा डालते हैं। जैसे, नायिका का अंग-वर्णन सौन्दर्य की भावना प्रतिष्ठित करने के लिए ही किया जाता है। ऐसे वर्णन में यदि कटि का प्रसंग आने पर भिड़ या सिंह की कमर सामने कर दी जायगी तो सौन्दर्य की भावना में क्या, वृद्धि होगी? प्रभात के सूर्यबिम्ब के सम्बन्ध में इस कथन से कि "है शोणित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को" अथवा शिखर की तरह उठे हुए मेघखण्ड के ऊपर उदित होते हुए चन्द्रबिम्ब के सम्बन्ध में इस उक्ति से कि "मनहुँ क्रमेलकपीठ पै धर्‍यो गोल घण्टा लसत," दूर की सूझ चाहे प्रकट हो, पर प्रस्तुत सौन्दर्य की भावना की कुछ भी पुष्टि नहीं होती।

पर जो लोग चमत्कार ही को काव्य का स्वरूप मानते हैं वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व कहा ही चाहे। चन्द्रालोककार तो कहते हैं कि—

> अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
> असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

भरत मुनि ने रस की प्रधानता की ओर ही संकेत किया था; पर भामह, उद्भट आदि कुछ प्राचीन आचार्यों ने वैचित्र्य का पल्ला पकड़ अलंकारों को प्रधानता दी। इनमें बहुतेरे आचार्यों ने अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में—रस, रीति, गुण आदि काव्य मे प्रयुक्त होनेवाली सारी सामग्री के अर्थ मे—किया है। पर ज्यो-ज्यों शास्त्रीय विचार गम्भीर और सूक्ष्म होता गया त्यो-त्यो साध्य और साधनों को विविक्त करके काव्य के नित्य स्वरूप या मर्म-शरीर को अलग निकालने का प्रयास बढ़ता गया। रुद्रट और मम्मट के समय से ही काव्य का प्रकृत स्वरूप उभरते-उभरते विश्वनाथ महापात्र के साहित्यदर्पण में साफ़ ऊपर आ गया।

प्राचीन गड़बड़झाला मिटे बहुत दिन हो गए। वर्ण्य वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक दूसरे से अलग कर दी गई है। प्रस्तुत अप्रस्तुत के भेद ने बहुत सी बातों के विचार और निर्णय के सीधे रास्ते खोल दिए हैं। अब यह स्पष्ट हो गया है कि अलंकार प्रस्तुत या वर्ण्य-वस्तु नहीं; बल्कि वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास-खास ढंग हैं। पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलंकार ऐसे चले आ रहे हैं जो वर्ण्य-वस्तु का निर्देश करते हैं और अलंकार नहीं कहे जा सकते—जैसे, स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति। स्वभावोक्ति को लेकर कुछ अलंकार-प्रेमी कह बैठते हैं कि प्रकृति का वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार ही है। पर स्वभावोक्ति अलंकार-कोटि में आ ही नहीं सकती। अलंकार वर्णन करने की प्रणाली है। चाहे जिस वस्तु या तथ्य के कथन को हम किसी अलंकार-प्रणाली के अन्तर्गत ला सकते हैं। किसी वस्तु-विशेष से किसी अलंकार-प्रणाली का संबन्ध नहीं हो सकता। किसी तथ्य तक वह परिमित नहीं रह सकती। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस-व्यवस्था का विषय है। किन-किन वस्तुओं, चेष्टाओं या व्यापारों का वर्णन किन-किन रसों के विभावो और अनुभावों के अन्तर्गत आएगा, इसकी सूचना रसनिरूपण के अन्तर्गत ही हो सकती है।

अलंकारों के भीतर स्वभावोक्ति का ठीक-ठीक लक्षण-निरूपण हो भी नही सका है। काव्यप्रकाश की कारिका में यह लक्षण दिया गया है—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रिया रूप-वर्णनम्।

अर्थात्—"जिसमें बालकादिको की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है।" प्रथम तो बालकादिक पद की व्याप्ति कहाँ तक है, यही स्पष्ट नहीं। अतः यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के रूप और व्यापार का वर्णन स्वभावोक्ति है। खैर बालक की रूपचेष्टा को लेकर ही स्वभावोक्ति की अलंकारता पर विचार कीजिए। वात्सल्य में बालक के रूप आदि का वर्णन

आलम्बन विभाग के अन्तर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्दीपन विभाग के अन्तर्गत होगा। प्रस्तुत वस्तु की रूप-क्रिया आदि के वर्णन को रस-क्षेत्र से घसीटकर अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नहीं ले जा सकते। मम्मट ही के ढंग के और आचार्यों के लक्षण भी हैं। अलंकार-सर्वस्व-कार राजानक रुय्यक कहते हैं—

सूक्ष्म-वस्तु-स्वभाव - यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

आचार्य दंडी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है—

नानावस्थं पदार्थानां साक्षाद्विवृण्वती !
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकारों के भीतर आ ही नहीं सकती। वक्रोक्तिवादी कुन्तल ने भी इसे अलंकार नहीं माना है।

जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार लादकर सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नहीं खड़ा कर सकता। केशवदास के पचीसों पद्य ऐसे रखे जा सकते हैं जिनमें यहाँ से वहाँ तक उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ भरी हैं, शब्दसाम्य के बड़े-बड़े खेल-तमाशे जुटाए गए हैं, पर उनके द्वारा कोई मार्मिक अनुभूति नहीं उत्पन्न होती। उन्हें कोई सहृदय या भावुक काव्य न कहेगा। आचार्यों ने भी अलंकारों को 'काव्य-शोभाकर,' 'शोभातिशायी' आदि ही कहा है। महाराज भोज भी अलंकार को 'अलमर्थमलंकर्त्तुः' ही कहते हैं। पहले से सुन्दर अर्थ को ही अलंकार शोभित कर सकता है। सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रयुक्त नहीं वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं जैसे शरीर पर से उतारकर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं। चमत्कार का विवेचन पहले हो चुका है।

अलंकार हैं क्या? सूक्ष्म दृष्टिवालों ने काव्यों के सुन्दर-सुन्दर स्थल चुने और उनकी रमणीयता के कारणों की खोज करने लगे।

वर्णन-शैली या कथन की पद्धति में ऐसे लोगों को जो-जो विशेषताएँ मालूम होती गई उनका वे नामकरण करते गए। जैसे, 'विकल्प' अलंकार का निरूपण पहले-पहल राजानक रुय्यक ने किया। कौन कह सकता है कि काव्यों में जितने रमणीय स्थल हैं सब ढूँढ़ डाले गए, वर्णन की जितनी सुन्दर प्रणालियाँ हो सकती हैं सब निरूपित हो गई अथवा जो-जो स्थल रमणीय लगे उनकी रमणीयता का कारण वर्णन-प्रणाली ही थी? आदि-काव्य रामायण से लेकर इधर तक के काव्यों में न जाने कितनी विचित्र वर्णन-प्रणालियाँ भरी पड़ी हैं जो न निर्दिष्ट की गई हैं और न जिनके कुछ नाम रखे गये हैं।

कविता पर अत्याचार

भी बहुत कुछ हुआ है। लोभियों, स्वार्थियो और खुशामदियों ने उसका गला दबाकर कहीं अपात्रों की—आसमान पर चढ़ानेवाली—स्तुति कराई है, कहीं द्रव्य न देनेवालों की निराधार निन्दा। ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं। कविता-देवी के मन्दिर ऊँचे, खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं। सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री, में ही सौन्दर्य नहीं ढूँढ़ा करते। वे फूस के झोपड़ो, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते हुए पक्षियो, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी-कभी ऐसे सौन्दर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया भी महलों और दरबारो तक नहीं पहुँच सकती। श्रीमानों के शुभा-गमन पर पद्य बनाना, बात-बात में उनको बधाई देना, कवि का काम नहीं। जिनके रूप या कर्म-कलाप जगत् और जीवन के बीच में उसे सुन्दर लगते हैं उन्हीं के वर्णन में वह 'स्वान्तःसुखाय' प्रवृत्त होता है।

कविता की आवश्यकता

मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में, किसी न किसी रूप में, पाई जाती

है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर बँधा-बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध भूला सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अन्तःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य-जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं।

—
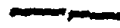
नाखून क्यों बढ़ते हैं?

हजारी प्रसाद द्विवेदी

बच्चे कभी-कभी चक्कर में डाल देनेवाले प्रश्न कर बैठते हैं। अल्पज्ञ पिता बड़ा दयनीय जीव होता है। मेरी छोटी लड़की ने जब उस दिन पूछ दिया कि आदमी के नाखून क्यों बढ़ते हैं, तो मैं कुछ सोच ही नहीं सका। हर तीसरे दिन नाखून बढ़ जाते हैं, बच्चे कुछ दिन तक अगर उन्हें बढ़ने दें, तो माँ-बाप अक्सर उन्हें डॉटा करते है। पर कोई नहीं जानता कि ये अभागे नाखून क्यों इस प्रकार बढ़ा करते है। काट दीजिए, वे चुपचाप दंड स्वीकार कर लेंगे, पर निर्लज्ज अपराधी की भाँति फिर छूटते ही सेंध पर हाजिर। आखिर ये इतने बेहया क्यों हैं?

कुछ लाख ही वर्षों की बात है, जब मनुष्य जंगली था, वनमानुष जैसा। उसे नाखून की जरूरत थी। उसकी जीवन रक्षा के लिए नाखून बहुत जरूरी थे। असल में वही उसके अस्त्र थे। दाँत भी थे, पर नाखून के बाद ही उनका स्थान था। उन दिनों उसे जूझना पड़ता था, प्रतिद्वंद्वियों को पछाड़ना पड़ता था। नाखून उसके लिए आवश्यक अंग था। फिर धीरे-धीरे वह अपने अंग से बाहर की वस्तुओं का सहारा लेने लगा। पत्थर के ढेले और पेड़ की डालें काम में लाने लगा (रामचंद्रजी की वानरी सेना के पास ऐसे ही अस्त्र थे)। उसने हड्डियों के भी हथियार बनाए। इन हड्डी के हथियारों में सबसे मजबूत और सबसे ऐतिहासिक था देवताओं के राजा का वज्र, जो दधीचि मुनि की हड्डियों से बना था। मनुष्य और आगे बढ़ा। उसने धातु के हथियार बनाए। जिनके पास लोहे के शस्त्र और अस्त्र थे, वे विजयी हुए। देवताओं के राजा तक को मनुष्यों के राजा से इसलिए सहायता लेनी पड़ती थी कि मनुष्यों के राजा के पास लोहे के अस्त्र थे। असुरों के पास अनेक विद्याएँ थीं, पर लोहे के अस्त्र नहीं थे, शायद घोड़े भी नहीं थे। आर्यों के पास ये दोनों चीजें थी। आर्य विजयी हुए। फिर इतिहास अपनी गति से बढ़ता गया। नाग हारे, सुपर्ण हारे, यक्ष हारे, गंधर्व हारे, असुर हारे, राक्षस हारे। लोहे के अस्त्रों ने बाजी मार ली। इतिहास आगे बढ़ा। पलीते-वाली बंदूकों ने, कारतूसों ने, तोपों ने, बमों ने, बमवर्षक वायुयानों ने इतिहास को किस कीचड़-भरे घाट तक घसीटा है, यह सबको मालूम है। नख-धर मनुष्य अब एटम-बम पर भरोसा करके आगे की ओर चल पड़ा है। पर उसके नाखून अब भी बढ़ रहे हैं। अब भी प्रकृति मनुष्य को उसके भीतरवाले अस्त्र से वंचित नहीं कर रही है, अब भी वह याद दिला देती है कि तुम्हारे नाखून को भुलाया नहीं जा सकता। तुम वही लाख वर्ष पहले के नखदंतावलंबी जीव हो - पशु के साथ एक ही सतह पर विचरनेवाले और चरनेवाले।

ततः किम्। मैं हैरान होकर सोचता हूँ कि मनुष्य आज अपने बच्चों को नाखून न काटने के लिए डाँटता है। किसी दिन - कुछ थोड़े लाख वर्ष पूर्व - वह अपने बच्चों को नाखून नष्ट करने पर डाँटता रहा होगा। लेकिन प्रकृति है कि वह अब भी नाखून को जिलाए जा रही है और मनुष्य है कि वह अब भी उसे काटे जा रहा है। वे कंबख्त रोज बढ़ते हैं, क्योंकि वे अंधे हैं, नहीं जानते कि मनुष्य को इससे कोटि-कोटि गुना शक्तिशाली अस्त्र मिल चुका है। मुझे ऐसा लगता है कि मनुष्य अब नाखून को नहीं चाहता। उसके भीतर बर्बर-युग का कोई अवशेष रह जाय, यह उसे असह्य है। लेकिन यह कैसे कहूँ। नाखून काटने से क्या होता है? मनुष्य की बर्बरता घटी कहाँ है, वह तो बढ़ती जा रही है। मनुष्य के इतिहास में हिरोशिमा का हत्याकांड बार-बार थोड़े ही हुआ है? यह तो उसका नवीनतम रूप है। मैं मनुष्य के नाखून की ओर देखता हूँ, तो कभी-कभी निराश हो जाता हूँ। ये उसकी भयंकर पाशवी वृत्ति के जीवन प्रतीक हैं। मनुष्य की पशुता को जितनी बार भी काट दो, वह मरना नहीं जानती।

कुछ हजार साल पहले मनुष्य ने नाखून को सुकुमार विनोदों के लिए उपयोग में लाना शुरू किया था। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से पता चलता है कि आज से दो हजार वर्ष पहले का भारतवासी नाखूनों को जमके सँवारता था। उनके काटने की कला काफी मनोरंजक बताई गई है। त्रिकोण, वर्तुलाकार, चंद्राकार, दंतुल आदि विविध आकृतियों के नाखून उन दिनों विलासी नागरिकों के न जाने किस काम आया करते थे। उनको सिक्थक (मोम) और अलक्तक (आलता) से यत्नपूर्वक रगड़कर लाल और चिकना बनाया जाता था। गौड देश के लोग उन दिनों बडे-बडे नखों को पसंद करते थे और दाक्षिणात्य लोग छोटे नखों को।

अपनी-अपनी रुचि है, देश की भी और काल की भी। लेकिन समस्त अधोगामिनी वृत्तियों की ओर नीचे खींचनेवाली वस्तुओं को भारतवर्ष ने मनुष्योचित बनाया है, यह बात चाहूँ भी तो भूल नहीं सकता।

मानव-शरीर का अध्ययन करनेवाले प्राणि-विज्ञानियों का निश्चित मत है कि मानव-चित्त की भाँति मानव-शरीर में भी बहुत-सी अभ्यासजन्य सहज वृत्तियाँ रह गई हैं। दीर्घकाल तक उनकी आवश्यकता रही है। अतएव शरीर ने अपने भीतर एक ऐसा गुण पैदा कर लिया है कि वे वृत्तियाँ अनायास ही, और शरीर के अनजान में भी, अपने-आप काम करती है। नाखून का बढ़ना उसमें से एक है, केश का बढ़ना दूसरा है, दाँत का दुबारा उठना तीसरा है, पलकों का गिरना चौथा है। और असल में सहजात वृत्तियाँ अनजान की स्मृतियाँ को ही कहते हैं। हमारी भाषा में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। अगर आदमी अपने शरीर की, मन की और वाक् की अनायास घटनेवाली वृत्तियों के विषय में विचार करे, तो उसे अपनी वास्तविक प्रवृत्ति पहचानने में बहुत सहायता मिले। पर कौन सोचता है? सोचना तो क्या, उसे इतना भी पता नहीं चलता कि उसके भीतर नख बढ़ा लेने की जो सहजात वृत्ति है, वह उसके पशुत्व का प्रमाण है। उन्हें काटने की जो प्रवृत्ति है, वह उसकी मनुष्यता की निशानी है और यद्यपि पशुत्व के चिह्न उसके भीतर रह गए हैं, पर वह पशुत्व को छोड़ चुका है। पशु बनकर वह आगे नहीं बढ़ सकता। उसे कोई और रास्ता खोजना चाहिए। अस्त्र बढ़ाने की प्रवृत्ति मनुष्यता की विरोधिनी है।

मेरा मन पूछता है - किस ओर? मनुष्य किस ओर बढ़ रहा है? पशुता की ओर या मनुष्यता की ओर? अस्त्र बढ़ाने की ओर या अस्त्र काटने की ओर? मेरी निर्बोध बालिका ने मानो मनुष्य जाति से ही प्रश्न किया है - जानते हो, नाखून क्यों बढ़ते हैं? यह हमारी पशुता के अवशेष हैं। मैं भी पूछता हूँ - जानते हो, ये अस्त्र-शस्त्र क्यों बढ़ रहे हैं? ये हमारी पशुता की निशानी हैं। भारतीय भाषाओं में प्रायः ही अँग्रेजी के 'इंडिपेंडेस' शब्द का समानार्थक शब्द नहीं व्यवहृत होता। 15 अगस्त को जब अँग्रेजी भाषा के पत्र 'इंडिपेंडेन्स' की घोषणा कर रहे थे, देशी भाषा के पत्र 'स्वाधीनता दिवस' की चर्चा कर रहे थे। 'इंडिपेंडेन्स' का अर्थ है अनधीनता या किसी की अधीनता का अभाव, पर 'स्वाधीनता' शब्द का अर्थ है अपने ही अधीन रहना। अँग्रेजी में कहना हो, तो 'सेल्फडिपेंडेन्स' कह सकते हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि इतने दिनों तक अँग्रेजी की अनुवर्तिता करने के बाद भी भारतवर्ष 'इंडिपेंडेन्स' को अनधीनता क्यों नहीं कह सका? उसने अपनी आजादी के जितने भी नामकरण किए स्वतंत्रता, स्वराज्य, स्वाधीनता - उन सबमें 'स्व' का बंधन अवश्य रखा। यह क्या संयोग की बात है या हमारी समूची परंपरा ही अनजान में, हमारी भाषा के द्वारा प्रकट होती रही है? मुझे प्राणि-विज्ञानी की बात फिर याद आती है - सहजात वृत्ति अनजानी स्मृतियों का ही नाम है। स्वराज होने के बाद स्वभावतः ही हमारे नेता और विचारशील नागरिक सोचने लगे हैं कि इस देश को सच्चे अर्थ में सुखी कैसे बनाया जाय। हमारे देश के लोग पहली बार यह सब सोचने लगे हों, ऐसी बात नहीं है। हमारा इतिहास बहुत पुराना है, हमारे शास्त्रों में इस समस्या को नाना भावों और नाना पहलुओं से विचारा गया है। हम कोई नौसिखुए नहीं है, जो रातों-रात अनजान जंगल में पहुँचाकर अरक्षित छोड़ दिए गए हों। हमारी परंपरा महिमामयी उत्तराधिकार विपुल और संस्कार उज्ज्वल हैं। हमारे अनजान में भी ये बातें हमें एक खास दिशा में सोचने की प्रेरणा देती हैं। यह जरूर है कि परिस्थितियाँ बदल गई है। उपकरण नए हो गए हैं और उलझनों की मात्रा भी बहुत बढ़ गई है, पर मूल समस्याएँ बहुत अधिक नहीं बदली हैं। भारतीय चित्त जो आज भी 'अनधीनता' के रूप में न सोचकर 'स्वाधीनता' के रूप में सोचता है, वह हमारे दीर्घकालीन संस्कारों का फल है। वह 'स्व' के बंधन को आसानी से नहीं छोड़ सकता। अपने आप पर अपने-आपके द्वारा लगाया हुआ बंधन हमारी संस्कृति की बड़ी भारी विशेषता है। मैं ऐसा तो नहीं मानता कि जो कुछ हमारा पुराना है, जो कुछ हमारा विशेष है, उससे हम चिपटे ही रहें। पुराने का 'मोह' सब समय वांछनीय ही नहीं होता। मरे बच्चे को गोद में दबाए रहनेवाली 'बँदरिया' मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती। परंतु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नई अनुसंधित्सा के नशे में चूर होकर अपना सरबस खो दें। कालिदास ने कहा था कि सब पुराने अच्छे नहीं होते, सब नए खराब ही नहीं होते। भले लोग दोनों की जाँच कर लेते हैं, जो हितकर होता है उसे ग्रहण करते हैं, और मूढ़ लोग दूसरों के इशारे पर भटकते रहते हैं। सो, हमें, परीक्षा करके हिकर बात सोच-लेनी होगी और अगर हमारे पूर्वसंचित भंडार में वह हितकर वस्तु निकल आए, तो इससे बढ़कर और क्या हो सकता है?

जातियाँ इस देश में अनेक आई हैं। लड़ती-झगड़ती भी रही हैं, फिर प्रेम पूर्वक बस भी गई हैं। सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी और नाना और मुख करके चलनेवाली इन जातियों के लिए एक सामान्य धर्म खोज निकालना कोई सहज बात नहीं थी। भारतवर्ष के ऋषियों ने अनेक प्रकार से इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की थी। पर एक बात उन्होंने लक्ष्य की थी। समस्त वर्णों और समस्त जातियों का एक सामान्य आदर्श भी है। वह है अपने ही बंधनों से अपने को बाँधना। मनुष्य पशु से किस बात में भिन्न है। आहार-निद्रा आदि पशु सुलभ स्वभाव उसके ठीक वैसे ही है, जैसे अन्य प्राणियों के। लेकिन वह फिर भी पशु से भिन्न है। उसमें संयम है, दूसरे के सुख-दुख के प्रति समवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है। यह मनुष्य के स्वयं के उद्भावित बंधन हैं। इसीलिए मनुष्य झगड़े-टंटे को अपना आदर्श नहीं मानता, गुस्से में आकर चढ़ दौड़नेवाले अविवेकी को बुरा समझता है और वचन, मन और शरीर से किए गए असत्याचरण को गलत आचरण मानता है। यह किसी भी जाति या वर्ण या समुदाय का धर्म नहीं है। यह मनुष्यमात्र का धर्म है। महाभारत में इसीलिए निर्वैर भाव, सत्य और अक्रोध को सब वर्णों का सामान्य धर्म कहा है :

> एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत।
> निर्वैरता महाराज सत्यमक्रोध एव च।।

अन्यत्र इसमें निरंतर दानशीलता को भी गिनाया गया है (अनुशासन प., 120. 10)। गौतम ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य की मनुष्यता यही है कि वह सबके दुख सुख को सहानुभूति के साथ देखता है। यह आत्म निर्मित बंधन ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। अहिंसा, सत्य और अक्रोधमूलक धर्म का मूल उत्स यही है। मुझे आश्चर्य होता है कि अनजान में भी हमारी भाषा में यह भाव कैसे रह गया है। लेकिन मुझे नाखून के बढ़ने पर आश्चर्य हुआ था। अज्ञान सर्वत्र आदमी को पछाड़ता है। और आदमी है कि सदा उससे लोहा लेने को कमर कसे है।

मनुष्य को सुख कैसे मिलेगा? बड़े-बड़े नेता कहते हैं, वस्तुओं की कमी है, और मशीन बैठाओ, और उत्पादन बढ़ाओ, और धन की वृद्धि करो और बाह्य उपकरणों की ताकत बढ़ाओ। एक बूढ़ा कहता था - बाहर नहीं, भीतर की ओर देखो। हिंसा को मन से दूर करो, मिथ्या को हटाओ, क्रोध और द्वेष को दूर करो, लोक के लिए कष्ट सहो, आराम की बात मत सोचो, प्रेम की बात सोचो, आत्म तोषण की बात सोचो, काम करने की बात सोचो। उसने कहा - प्रेम ही बड़ी चीज है, क्योंकि वह हमारे भीतर है। उच्छृंखलता पशु की प्रवृत्ति है, 'स्व' का बंधन मनुष्य का स्वभाव है। बूढ़े की बात अच्छी लगी या नहीं, पता नहीं। उसे गोली मार दी गई, आदमी के नाखून बढ़ने की प्रवृत्ति ही हावी हुई। मैं हैरान होकर सोचता हूँ - बूढ़े ने कितनी गहराई में पैठकर मनुष्य की वास्तविक चरितार्थता का पता लगाया था।

ऐसा कोई दिन आ सकता है, जबकि मनुष्य के नाखूनों का बढ़ना बंद हो जाएगा। प्राणिशास्त्रियों का ऐसा अनुमान है कि मनुष्य का अनावश्यक अंग उसी प्रकार झड़ जाएगा, जिस प्रकार उसी पूँछ झड़ गई है। उस दिन मनुष्य की पशुता भी लुप्त हो जाएगी। शायद उस दिन वह मारणास्त्रों का प्रयोग भी बंद कर देगा। तब तक इस बात से छोटे बच्चों को परिचित करा देना वांछनीय जान पड़ता है कि नाखून का बढ़ना मनुष्य के भीतर की पशुता की निशानी है और उसे नहीं बढ़ने देना मनुष्य की अपनी इच्छा है, अपना आदर्श है। बृहत्तर जीवन में रोकना मनुष्यत्व का तकाजा है। मनुष्य में जो घृणा है, जो अनायास - बिना सिखाए - आ जाती है, वह पशुत्व का द्योतक है और अपने को संयत रखना, दूसरे के मनोभावों का आदर करना मनुष्य का स्वधर्म है। बच्चे यह जानें तो अच्छा हो कि अभ्यास और तप से प्राप्त वस्तुएँ मनुष्य की महिमा को सूचित करती हैं।

सफलता और चरितार्थता में अंतर है। मनुष्य मारणास्त्रों के संचयन से, बाह्य उपकरणों के बाहुल्य से उस वस्तु को पा भी सकता है, जिसे उसने बड़े आडंबर के साथ सफलता का नाम दे रखा है। परंतु

मनुष्य की चरितार्थता प्रेम में है, मैत्री में है, त्याग में है, अपने को सबके मंगल के लिए निःशेष भाव से दे देने में है। नाखूनों का बढ़ना मनुष्य की उस अंध सहजात वृत्ति का परिणाम है, जो उसके जीवन में

सफलता ले आना चाहती है, उसको काट देना उस स्व-निर्धारित, आत्म-बंधन का फल है, जो उसे चरितार्थता की ओर ले जाती है।

नाखून बढ़ते हैं तो बढ़ें, मनुष्य उन्हें बढ़ने नहीं देगा।

विद्यानिवास मिश्र: मेरे राम का मुकुट भीग रहा है

महीनों से मन बेहद-बेहद उदास है। उदासी की कोई खास वजह नहीं, कुछ तबीयत ढीली, कुछ आसपास के तनाव और कुछ उनसे टूटने का डर, खुले आकाश के नीचे भी खुलकर सांस लेने की जगह की कमी, जिस काम में लगकर मुक्ति पाना चाहता हूं, उस काम में हज़ार बाधाएं; कुल ले-देकर उदासी के लिए इतनी बड़ी चीज नहीं बनती। फिर भी रात-रात नींद नहीं आती। दिन ऐसे बीतते हैं, जैसे भूतों के सपनों की एक रील पर दूसरी रील चढ़ा दी गई हो और भूतों की आकृतियां और डरावनी हो गई हों। इसलिए कभी-कभी तो बड़ी-से-बड़ी परेशानी करने वाली बात हो जाती है और कुछ भी परेशानी नहीं होती, उल्टे ऐसा लगता है, जो हुआ, एक सहज क्रम में हुआ; न होना ही कुछ अटपटा होता और कभी-कभी बहुत मामूली-सी बात भी भयंकर चिंता का कारण बन जाती है।

अभी दो-तीन रात पहले मेरे एक साथी संगीत का कार्यक्रम सुनने के लिए नौ बजे रात गए, साथ में जाने के लिए मेरे एक चिरंजीव ने और मेरी एक मेहमान, महानगरीय वातावरण में पली कन्या ने अनुमति मांगी। शहरों की आजकल की असुरक्षित स्थिति का ध्यान करके इन दोनों को जाने तो नहीं देना चाहता था, पर लड़कों का मन भी तो रखना होता है, कह दिया, एक-डेढ़ घंटे सुनकर चले आना।

रात के बारह बजे। लोग नहीं लौटे। गृहिणी बहुत उद्विग्न हुईं, झल्लायीं; साथ में गए मित्र पर नाराज होने के लिए संकल्प बोलने लगीं। इतने में ज़ोर की बारिश आ गई। छत से बिस्तर समेटकर कमरे में आया। गृहिणी को समझाया, बारिश थमेगी, आ जाएंगे, संगीत में मन लग जाता है, तो उठने की तबीयत नहीं होती, तुम सोओ, ऐसे बच्चे नहीं हैं। पत्नी किसी तरह शांत होकर सो गईं, पर मैं अकुला उठा। बारिश निकल गई, ये लोग नहीं आए। बरामदे में कुर्सी लगाकर राह जोहने लगा। दूर कोई भी आहट होती तो, उदग्र होकर फाटक की ओर देखने लगता। रह-रहकर बिजली चमक जाती थी और सड़क दिप जाती थी। पर सामने की सड़क पर कोई रिक्शा नहीं, कोई चिरई का पूत नहीं। एकाएक कई दिनों से मन में उमड़ती-घुमड़ती पंक्तिया गूंज गईं :

"मोरे राम के भीजे मुकुटवा

लछिमन के पटुकवा

मोरी सीता के भीजै सेनुरवा

त राम घर लौटहिं।"

(मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा, मेरे लखन का पटुका (दुपट्टा) भीग रहा होगा, मेरी सीता की मांग का सिंदूर भीग रहा होगा, मेरे राम घर लौट आते।)

बचपन में दादी-नानी जांते पर वह गीत गातीं, मेरे घर से बाहर जाने पर विदेश में रहने पर वे यही गीत विह्वल होकर गातीं और लौटने पर कहतीं - 'मेरे लाल को कैसा वनवास मिला था।' जब मुझे दादी-नानी की इस आकुलता पर हंसी भी आती, गीत का स्वर बड़ा मीठा लगता। हां, तब उसका दर्द नहीं छूता। पर इस प्रतीक्षा में एकाएक उसका दर्द उस ढलती रात में उभर आया और सोचने लगा, आने वाली पीढ़ी पिछली पीढी की ममता की पीड़ा नहीं समझ पाती और पिछली पीढ़ी अपनी संतान के सम्भावित संकट की कल्पना मात्र से उद्विग्न हो जाती है। मन में यह प्रतीति ही नहीं होती कि अब संतान समर्थ है, बड़ा-से-बड़ा संकट झेल लेगी। बार-बार मन को समझाने की कोशिश करता, लड़की दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में पढ़ाती है, लड़का संकट-बोध की कविता लिखता है, पर लड़की का ख्याल आते ही दुश्चिता होती, गली में जाने कैसे तत्व रहते हैं! लौटते समय कहीं कुछ हो न गया हो और अपने भीतर अनायास अपराधी होने का भाव जाग जाता, मुझे रोकना चाहिए था या कोई व्यवस्था करनी चाहिए थी, पराई लड़की (और लड़की तो हर एक पराई होती है, धोबी की मुटरी की तरह घाट पर खुले आकाश में कितने दिन फहराएगी, अंत में उसे गृहिणी बनने जाना ही है) घर आई, कहीं कुछ हो न जाए!

मन फिर घूम गया कौसल्या की ओर, लाखों-करोड़ों कौसल्याओं की ओर, और लाखों करोड़ों कौसल्याओं के द्वारा मुखरित एक अनाम-अरूप कौसल्या की ओर, इन सबके राम वन में निर्वासित हैं, पर क्या बात है कि मुकुट अभी भी उनके माथे पर बंधा है और उसी के भीगने की इतनी चिंता है? क्या बात है कि आज भी काशी की रामलीला आरम्भ होने के पूर्व एक निश्चित मुहुर्त में मुकुट की ही पूजा सबसे पहले की जाती है? क्या बात है कि तुलसीदास ने 'कानन' को 'सत अवध समाना' कहा और चित्रकूट में ही पहुंचने पर उन्हें 'कलि की कुटिल कुचाल' दीख पड़ी? क्या बात है कि आज भी वनवासी धनुर्धर राम ही लोकमानस के राजा राम बने हुए हैं? कहीं-न-कहीं इन सबके बीच एक संगति होनी चाहिए।

अभिषेक की बात चली, मन में अभिषेक हो गया और मन में राम के साथ राम का मुकुट प्रतिष्ठित हो गया। मन में प्रतिष्ठित हुआ, इसलिए राम ने राजकीय वेश में उतारा, राजकीय रथ से उतरे, राजकीय भोग का परिहार किया, पर मुकुट तो लोगों के मन में था, कौसल्या के मातृ-स्नेह में था, वह कैसे उतरता, वह मस्तक पर विराजमान रहा और राम भीगें तो भीगें, मुकुट न भीगने पाए, इसकी चिंता बनी रही। राजा राम के साथ उनके अंगरक्षक लक्ष्मण का कमर -बंद दुपट् टा भी (प्रहरी की जागरूकता का उपलक्षण) न भीगने पाए और अखंड सौभाग्यवती सीता की मांग का सिंदूर न भीगने पाए, सीता भले ही भीग जाएं। राम तो वन से लौट आए, सीता को लक्ष्मण फिर निर्वासित कर आए, पर लोकमानस में राम की वनयात्रा अभी नहीं रूकी। मुकुट, दुपट् टे और सिंदूर के भीगने की आशंका अभी भी साल रही है। कितनी अयोध्याएं बसीं, उजड़ीं, पर निर्वासित राम की असली राजधानी, जंगल का रास्ता अपने कांटों-कुशों, कंकड़ों-पत्थरों की वैसी ही ताजा चुभन लिये हुए बरकरार है, क्योंकि जिनका आसरा साधारण गंवार आदमी भी लगा सकता है, वे राम तो सदा निर्वासित ही रहेंगे और उनके राजपाट को सम्भालने वाले भरत अयोध्या के समीप रहते हुए भी उनसे भी अधिक निर्वासित रहेंगे, निर्वासित ही नहीं, बल्कि एक कालकोठरी में बंद जिलावतनी की तरह दिन

बिताएंगे।

सोचते-सोचते लगा की इस देश की ही नहीं, पूरे विश्व की एक कौसल्या है; जो हर बारिश में विसूर रही है - 'मोरे राम के भीजे मुकुटवा' (मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा)। मेरी संतान, एश्वर्य की अधिकारिणी संतान वन में घूम रही है, उसका मुकुट, उसका ऐश्वर्य भीग रहा है, मेरे राम कब घर लौटेंगे; मेरे राम के सेवक का दुपट्   टा भीग रहा है, पहरुए का कमरबंद भीग रहा है, उसका जागरण भीग रहा है, मेरे राम की सहचारिणी सीता का सिंदूर भीग रहा है, उसका अखंड सौभाग्य भीग रहा है, मैं कैसे धीरज धरूं? मनुष्य की इस सनातन नियति से एकदम आतंकित हो उठा ऐश्वर्य और निर्वासन दोनों साथ-साथ चलते हैं। जिसे एश्वर्य सौंपा जाने को है, उसको निर्वासन पहले से बदा है। जिन लोगों के बीच रहता हूं, वे सभी मंगल नाना के नाती हैं, वे 'मुद मंगल' में ही रहना चाहते हैं, मेरे जैसे आदमी को वे निराशावादी समझकर बिरादरी से बाहर ही रखते हैं, डर लगता रहता है कि कहीं उड़कर उन्हें भी दुख न लग जाए, पर मैं अशेष मंगलाकांक्षाओं के पीछे से झांकती हुई दुर्निवार शंकाकुल आंखों में झांकता हूं, तो मंगल का सारा उत्साह फीका पड़ जाता है और बंदनवार, बंदनवार न दिखकर बटोरी हुई रस्सी की शक्ल में कुंडली मारे नागिन दिखती है, मंगल-घट औंधाई हुई अधफूटी गगरी दिखता है, उत्सव की रोशनी का तामझाम धुओं की गांठों का अम्बार दिखता है और मंगल-वाद्य डेरा उखाड़ने वाले अंतिम कारबरदार की उसांस में बजकर एकबारगी बंद हो जाता है।

लागति अवध भयावह भारी,

मानहुं कालराति अंधियारी।

घोर जंतु सम पुर नरनारी,

डरपहिं एकहि एक निहारी।

घर मसान परिजन जनु भूता,

सुत हित मीत मनहुं जमदूता।

वागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं,

सरित सरोवर देखि न जाहीं।

कैसे मंगलमय प्रभात की कल्पना थी और कैसी अँधेरी कालरात्रि आ गई है? एक-दूसरे को देखने से डर लगता है। घर मसान हो गया है, अपने ही लोग भूत-प्रेत बन गए हैं, पेड़ सूख गए हैं, लताएं कुम्हला गई हैं। नदियों और सरोवरों को देखना भी दुस्सह हो गया है। केवल इसलिए कि जिसका ऐश्वर्य से अभिषेक हो रहा था, वह निर्वासित हो गया। उत्कर्ष की ओर उन्मुख समष्टि का चैतन्य अपने ही घर से बाहर कर दिया गया, उत्कर्ष की, मनुष्य की ऊर्ध्वोन्मुख चेतना

की यही कीमत सनातन काल से अदा की जाती रही है। इसीलिए जब कीमत अदा कर ही दी गई, तो उत्कर्ष कम-से-कम सुरक्षित रहे, यह चिंता स्वाभाविक हो जाती है। राम भीगें तो भीगें, राम के उत्कर्ष की कल्पना न भीगे, वह हर बारिश में हर दुर्दिन में सुरक्षित रहे। नर के रूप में लीला करने वाले नारायण निर्वासन की व्यवस्था झेलें, पर नर रूप में उनकी ईश्वरता का बोध दमकता रहे, पानी की बूंदों की झालर में उसकी दीप्ति छिपने न पाए। उस नारायण की सुख -सेज बने अनंत के अवतार लक्ष्मण भले ही भीगते रहें, उनका दुपट्   टा, उनका अहर्निशि जागर न भीजे, शेषी नारायण के ऐश्वर्य का गौरव अनंत शेष के जागर-संकल्प से ही सुरक्षित हो सकेगा और इन दोनों का गौरव जगज्जननी आद्याशक्ति के अखंड सौभाग्य, सीमंत, सिंदूर से रक्षित हो सकेगा, उस शक्ति का एकनिष्ठ प्रेमपाकर राम का मुकुट है, क्योंकि राम का निर्वासन वस्तुत: सीता का दुहरा निर्वासन है। राम तो लौटकर राजा होते हैं, पर रानी होते ही सीता राजा राम द्वारा वन में निर्वासित कर दी जाती हैं। राम के साथ लक्ष्मण हैं, सीता हैं, सीता वन्य पशुओं से घिरी हुई विजन में सोचती हैं - प्रसव की पीड़ा हो रही है, कौन इस वेला में सहारा देगा, कौन प्रसव के समय प्रकाश दिखलाएगा, कौन मुझे संभालेगा, कौन जन्म के गीत गाएगा?

कोई गीत नहीं गाता। सीता जंगल की सूखी लकड़ी बीनती हैं, जलाकर अंजोर करती हैं और जुड़वां बच्चों का मुंह निहारती हैं। दूध की तरह अपमान की ज्वाला में चित्त कूद पड़ने के लिए उफनता है और बच्चों की प्यारी और मासूम सूरत देखते ही उस पर पानी के छींटे पड़ जाते हैं, उफान दब जाता है। पर इस निर्वासन में भी सीता का सौभाग्य अखण्डित है, वह राम के मुकुट को तब भी प्रमाणित करता है, मुकुटधारी राम को निर्वासन से भी बड़ी व्यथा देता है और एक बार और अयोध्या जंगल बन जाती है, स्नेह की रसधार रेत बन जाती है, सब कुछ उलट-पलट जाता है, भवभूति के शब्दों में पहचान की बस एक निशानी बच रहती है, दूर उंचे खड़े तटस्थ पहाड़, राजमुकुट में जड़ें हीरों की चमक के सैकड़ों शिखर, एकदम कठोर, तीखे और निर्मम -

पुरा यत्र स्रोत: पुलिनमधुना तत्र सरितां

विपर्यासं यातो घनविरलभाव: क्षितिरुहामू।

बहो: कालाद् दृष्टं ह्यपरमिव मन्ये वनमिंद

निवेश: शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति।

राम का मुकुट इतना भारी हो उठता है कि राम उस बोझ से कराह उठते हैं और इस वेदना के चीत्कार में सीता के माथे का सिंदूर और दमक उठता है, सीता का वर्चस्व और प्रखर हो उठता है।

कुर्सी पर पड़े-पड़े यह सब सोचते-सोचते चार बजने को आए, इतने में दरवाजे पर हल्की-सी दस्तक पड़ी, चिरंजीवी निचली मंजिल से ऊपर नहीं चढ़े, सहमी हुई कृष्णा (मेरी मेहमान लड़की) बोली - दरवाजा खोलिए। आंखों में इतनी कातरता कि कुछ कहते नहीं बना, सिर्फ इतना कहा कि तुम लोगों को इसका क्या अंदाज होगा कि हम कितने

परेशान रहे हैं। भोजन-दूध धरा रह गया, किसी ने भी छुआ नहीं, मुंह ढांपकर सोने का बहाना शुरू हुआ, मैं भी स्वस्ति की सांस लेकर बिस्तर पर पड़ा, पर अर्धचेतन अवस्था में फिर जहां खोया हुआ था, वहीं लौट गया। अपने लड़के घर लौट आए, बारिश से नहीं संगीत से भीगकर, मेरी दादी-नानी के गीतों के राम, लखन और सीता अभी भी वन-वन भीग रहे हैं। तेज बारिश में पेड़ की छाया और दुखद हो जाती है, पेड़ की हर पत्ती से टप-टप बूंदें पड़ने लगती हैं, तने पर टिके, तो उसकी हर नस-नस से आप्लावित होकर बारिश पीठ गलाने लगती है। जाने कब से मेरे राम भीग रहे हैं और बादल हैं कि मूसलाधार ढरकाये चले जा रहे हैं, इतने में मन में एक चोर धीरे-से फुसफुसाता है, है, राम तुम्हारे कब से हुए, तुम, जिसकी बुनाहट पहचान में नहीं आती, जिसके व्यक्तित्व के ताने-बाने तार-तार होकर अलग हो गए हैं, तुम्हारे कहे जानेवाले कोई भी हो सकते हैं कि वह तुम कह रहे हो, मेरे राम! और चोर की बात सच लगती है, मन कितना बंटा हुआ है, मनचाही और अनचाही दोनों तरह की हज़ार चीजों में। दूसरे कुछ पतियाएं भी, पर अपने ही भीतर परतीति नहीं होती कि मैं किसी का हूं या कोई मेरा है। पर दूसरी ओर यह भी सोचता हूं कि क्या बार-बार विचित्र-से अनमनेपन में अकारण चिंता किसी के लिए होती है, वह चिंता क्या पराए के लिए होती है, वह क्या कुछ भी अपना नहीं है? फिर इस अनमनेपन में ही क्या राम अपनाने के लिए हाथ नहीं बढ़ाते आए हैं, क्या न-कुछ होना और न-कुछ बनाना ही अपनाने की उनकी बढ़ी हुई शर्त नहीं है?

तार टूट जाता है, मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, यह भीतर से कहा पाऊं? अपनी उदासी से ऐसा चिपकाव अपने संकरे -से-दर्द से ऐसा रिश्ता, राम को अपना कहने के लिए केवल उनके लिए भरा हुआ हृदय कहां पाऊं? मैं शब्दों के घने जंगलों में हिरा गया हूं। जानता हूं, इन्हीं जंगलों के आसपास किसी टेकड़ी पर राम की पर्णकुटी है, पर इन उलझानेवाले शब्दों के अलावा मेरे पास कोई राह नहीं। शायद सामने उपस्थित अपने ही मनोराज्य के युवराज, अपने बचे-खुचे स्नेह के पात्र, अपने भविष्यत् के संकट की चिंता में राम के निर्वासन का जो ध्यान आ जाता है, उनसे भी अधिक एक बिजली से जगमगाते शहर में एक पढ़ी-लिखी चंद दिनों की मेहमान लड़की के एक रात कुछ देर से लौटने पर अकारण चिंता हो जाती है, उसमें सीता का ख्याल आ जाता है, वह राम के मुकुट या सीता के सिंदूर के भीगने की आशंका से जोड़े न जोड़े, आज की दरिद्र अर्थहीन, उदासी को कुछ ऐसा अर्थ नहीं दे देता, जिससे जिंदगी ऊब से कुछ उबर सके?

और इतने में पूरब से हल्की उजास आती है और शहर के इस शोर-भरे बियाबान में चक्की के स्वर के साथ चढ़ती-उतरती जंतसार गीति हल्की-सी सिहरन पैदा कर जाती है। 'मोरे राम के भीजै मुकुटवा' और अमचूर की तरह विश्वविद्यालयीय जीवन की नीरसता में सूखा मन कुछ जरूर ऊपरी सतह पर ही सही भीगता नहीं, तो कुछ नम तो हो ही जाता है, और महीनों की उमड़ी-घुमड़ी उदासी बरसने-बरसने को आ जाती है। बरस न पाए, यह अलग बात है (कुछ भीतर भाप हो, तब न बरसे), पर बरसने का यह भाव जिस ओर से आ रहा है, उधर राह होनी चाहिए। इतनी असंख्य कौसल्याओं के कण्ठ में बसी हुई जो एक अरूप ध्वनिमयी कौसल्या है, अपनी सृष्टि के संकट में उसके सतत उत्कर्ष के लिए आकुल, उस कौसल्या की ओर, उस मानवीय संवेदना की ओर ही कहीं राह है, घास के नीचे दबी हुई। पर उस

घास की महिमा अपरम्पार है, उसे तो आज वन्य पशुओं का राजकीय संरक्षित क्षेत्र बनाया जा रहा है, नीचे ढंकी हुई राह तो सैलानियों के घूमने के लिए, वन्य पशुओं के प्रदर्शन के लिए, फोटो खींचनेवालों की चमकती छवि यात्राओं के लिए बहुत ही रमणीक स्थली बनाई जा रही है। उस राह पर तुलसी और उनके मानस के नाम पर बड़े-बड़े तमाशे होंगे, फुलझड़िया दगेंगी, सैर-सपाटे होंगे, पर वह राह ढंकी ही रह जाएगी, केवल चक्की का स्वर, श्रम का स्वर ढलती रात में, भीगती रात में अनसोए वात्सल्य का स्वर राह तलाशता रहेगा - किस ओर राम मुड़े होंगे, बारिश से बचने के लिए? किस ओर? किस ओर? बता दो सखी।

- विद्यानिवास मिश्र

मजदूरी और प्रेम

सरदार पूर्ण सिंह

हल चलाने वाले का जीवन

हल चलाने वाले और भेड़ चराने वाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सुफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियों-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिरकर उगे हैं और हवा तथा प्रकाश की सहायता से मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में आहुति हुआ सा दिखाई पड़ता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केंद्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक प्रकार का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की निरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा; जप और तप यह नहीं करता; संध्या-वंदनादि इसे नहीं आते; ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं; मंदिर, मस्जिद, गिरजे से इसे कोई सरोकार नहीं नहीं; केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंडे चश्मों और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर यह अपने हल-बैलों को नमस्कार करता है और खेत जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गाँवों से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसाने वाले के दर्शनार्थ आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः दिन और रात विधाता इसके हृदय में अचिंतनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो इसका इसे ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है; गाय इसकी दूध देती है; स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है; मकान इसका पुण्य और आनंद का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उसके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उसके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है - "भोले भाव मिलें रघुराई", भोले भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चंद्रमा छन-छनकर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे-मुकुट के गोपालों के दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लंबी लाठी हाथ में लिए हुए गौवों का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का हमराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठाने वाला, भूखों और नंगों को पालने वाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

गड़रिये का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिये को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सफेद ऊन वाली भेड़ें अपना मुँह नीचे किए हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। वह निरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सुफेद हैं और क्यों न सुफेद हों? सुफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परंतु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानो विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल-जंगल भेड़ चराती घूमती

हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है, घर इनका बेघर हे, ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

किसी के घर कर मैं न घर कर बैठना इस दारे फानी में।

ठिकाना बेठिकाना और मकाँ वर ला-मकाँ रखना॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़रिये की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य का अस्त होना देख रही है। उनकी सुनहली किरणें इसके लिए लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य को को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।

चले थे अश्कों के क्या फवारे इधर हमारे उधर तुम्हारे॥

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा के तूफ़ान में पड़ी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगंधि से सुगंधित है। इनके मुख, शरीर और अंतःकरण सुफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सुफेद। अपनी सुफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सुफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको।

मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो॥

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन-रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सब की आँखें शून्य आकाश में किसी को देखने लग गईं। पता नहीं ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हें फुरसत नहीं। पर हाँ, इन सब की आँखें किसी के आगे शब्द-रहित संकल्प-रहित मौन प्रार्थन में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिरे और झम-झम बरसने लगे। मानो प्रकृति के देवता भी इनके आनंद से आनंदित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनंद-मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं, रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने

एक-दूसरे का हाथ पकड़कर पहाड़ी राग अलापना आरंभ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानंद का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा - "भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जायँ तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चंद्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है उसे इस गड़रिये की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परंतु कदाचित प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी इनको देखा ही था, सुना न था। पंडितों की ऊटपटाँग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मंद-मंद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गंभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़रिये के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

मजदूर की मजदूरी

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा - "यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।" वाह क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिए वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे; अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है। अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है, जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका। परंतु उसने उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अंतःकरण में रोज भरतमिलाप का सा समाँ बँध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है, साथ ही साथ वह अपने दुख पर रोती भी है - एक दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक-एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी; तब कुछ तो खाने के लिए मिलेगा। जब वह थक जाती हे तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिए हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरसकर अभी-अभी बिखर गए हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरांत 'हे राम' कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं - मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन-रूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम - प्रार्थना, संध्या और नमाज से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

प्रेम-मजदूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है। राफेल आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कला-कुशलता को देख इतनी सदियों के बाद भी उनके अंतःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किंतु साथ ही उसमें छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परंतु यंत्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि बस्ती ओर श्मशान में। हाथ की मेहनत से चित्रों में जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज में कहाँ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बंद किए हुए अचार मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिंदा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन

यहाँ नीरस होते हैं क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परंतु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में कितना रस होता है जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठंडा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेमप्याला पीता हो उसके लिए शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गदगद रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रस-भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणों से अँधेरी रात पर सुफेदी-सी छिटकाई इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला; दूध की धारा से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सुफेद आटा बना लिया। इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी-सी टोकरी सिर पर; एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ में मक्खन की हाँड़ी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनंददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीती-जागती, चैतन्य और आनंदमयी प्रातःकालीन शोभा-सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नजर आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनंददायिनी लालिमा देख पड़ती है। यह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

मजदूरी और कला

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो हजारों रुपया है; परंतु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं! सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनंद नहीं मिल सकता। सच्चा आनंद तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मंदिर और गिरजे में क्या रखा है? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो - आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मंदिर, मस्जिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे यही आर्ट है - यही धर्म है। मनुष्य के हाथ से ही ईश्वर के दर्शन कराने वाले निकलते हैं। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिंतन किस काम के! सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिंतन, अंत में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। यही आसन ईश्वर-प्रप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान करने वाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सबके सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिंतन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे-बैठे मन के घोड़े हार गए हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नए प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण संगीत साहित्य संसार में प्रचलित होने वाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से यह नई कविता निकलेगी जो अपना जीवन आनंद के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रंगे हुए ये बेजबान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ़ दसों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्य के कलावंतों के लिए वही ध्रुपद और मल्हार का काम देगा। चरखा कातने वाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मजदूरों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी। तभी

नए कवि पैदा होंगे, तभी नए औलियों का उद्भव होगा। परंतु ये सब के सब मजदूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूर-ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

मजदूरी और फकीरी

मजदूरी और फकीरी का महत्व थोड़ा नहीं। मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिए परमावश्यक है। बिना मजदूरी किए फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है; फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है; बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीजें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही, उम्र भर बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं; परंतु इस तरह मग्न होना किस काम का? हवा चल रही है; जल बह रहा है; बादल बरस रहा है; पक्षी नहा रहे हैं; फूल खिल रहे हैं; घास नई, पेड़ नए, पत्ते नए - मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी! ऐसा दृश्य तभी तक रहता है जब तक बिस्तर पर पड़े-पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य सुख मनाता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूल की सुगंध लो, ठंडी वायु में भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल पल्लवों का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभात-समय जागना बुद्धि और अंतःकरण को तरोताजा करना है और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देना है। निकम्मे बैठे हुए चिंतन करते रहना, अथवा बिना काम किए शुद्ध विचार का दावा करना, मानो सोते-सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादड़ी, मौलवी, पंडित और साधु, संन्यासी, हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनंत काल बीत जाने तक, मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनका लेख बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं जैसे पिछले साल के थे। परंतु इस साल वाले ताजे हैं। इनकी लाली नई है, इनकी सुगंध भी इन्हीं की अपनी है। जीवन के नियम नहीं पलटते; वे सदा एक ही से रहते हैं। परंतु मजदूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताजा खुदा नजर आने लगता है।

गेरुए वस्त्रों की पूजा क्यों करते हो? गिरजे की घंटी क्यों सुनते हो? रविवार क्यों मनाते हो? पाँच वक्त नमाज क्यों पढ़ते हो? त्रिकाल संध्या क्यों करते हो? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप परिणाम है, आमा रूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रंग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आप को किसी के हवाले कर देना प्रेम-धर्म का तत्व है। जिस समाज में इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है; क्योंकि पूछने वाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई-बहन हैं। अपने ही भाई-बहनों के माता-पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है? यह सारा संसार एक कुटुंबवत् है। लँगड़े, लूले, अंधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं जिसकी छत के नीचे बलवान, निरोग और रूपवान कुटुंबी रहते हैं। मूढ़ों और पशुओं का पालन-पोषण बुद्धिमान, सबल और निरोग ही तो करेंगे। आनंद और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मजदूरी के ही कंधों पर रहता आया है। कामना सहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है; क्योंकि मजदूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिए जो उपदेश दिए जाते हैं उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिन-रात घूमती है। यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है। परंतु उसका यह घूमना सूर्य के इर्द-गिर्द घूमता तो है और सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना सूर्यमंडल के साथ आकाश में एक सीधी लकीर पर चलना है। अंत में, इसको गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमें स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाएँ उसके जीवन को मानो उसके स्वार्थरूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परंतु उसका जीवन

अपना तो है ही नहीं, वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्यमंडल के साथ की चाल है और अंततः यह चाल जीवन का परमार्थ रूप है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है, जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनों ही एक बात हुई। इसलिए मजदूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय संबंध है।

मजदूरी करना जीवनयात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन ऑव आर्क (Joan of Arc) की फकीरी और भेड़ें चराना, टाल्सटाय का त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तंबू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रंग महलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान श्रीकृष्ण का कूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना - सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

समाज का पालन करने वाली दूध की धारा

एक दिन गुरु नानक यात्रा करते-करते लालो नाम के एक बढ़ई के घर ठहरे। उस गाँव का भागो नामक रईस बड़ा मालदार था। उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था। दूर-दूर से साधु आए थे। गुरु नानक का आगमन सुनकर भागो ने उन्हें भी निमंत्रण भेजा। गुरु ने भागो का अन्न खाने से इनकार कर दिया। इस बात पर भागो को बड़ा क्रोध आया। उसने गुरु नानक को बलपूर्वक पकड़ मँगाया और उनसे पूछा - आप मेरे यहाँ का अन्न क्यों नहीं ग्रहण करते? गुरुदेव ने उत्तर दिया - भागो, अपने घर का हलवा-पूरी ले आओ तो हम इसका कारण बतला दें। वह हलवा-पूरी लाया तो गुरुनानक ने लालो के घर से भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई। भागो की हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ। जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करने वाली दूध की धारा है। यही धारा शिवजी की जटा से और यही धारा मजदूरों की उँगलियों से निकलती है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे-छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हजारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान निवासी कागज, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपये के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी हुई जापानी चीजें मशीन से बनी हुई चीजों को मात करती हैं। संसार के सब बाजारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्त्वज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। उन उँगलियों ही के बल से, संभव है हम जगत् को जीत लें। ("We shall beat the world with the tips of our fingers") जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही की क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड़ नर-नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मजदूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप ही आप आ गिरे।

अन्न पैदा करना तथा हाथ की कारीगरी और मिहनत से जड़ पदार्थों को चैतन्यचिह्न से सुसज्जित करना, क्षुद्र पदार्थों को अमूल्य पदार्थों में बदल देना इत्यादि कौशल ब्रह्मरूप होकर धन और ऐश्वर्य की सृष्टि करते हैं! कविता फकीरी और साधुता के ये दिव्य कला-कौशल जीते-जागते और हिलते-डुलते प्रतिरूप हैं। इनकी कृपा से मनुष्य जाति का कल्याण होता है। ये उस देश में कभी निवास नहीं करते जहाँ मजदूर और मजदूर की मजदूरी का सत्कार नहीं होता, जहाँ शूद्र की पूजा नहीं होती। हाथ से

काम करने वालों से प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मजदूरी सुंदरता का अनुभव करने वाले कला-कौशल, अर्थात कारीगरी, का रूप हो जाती है। इस देश में जब मजदूरी का आदर होता था तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मजदूरों के हाथों ने भगवान बुद्ध के निवार्ण-सुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर, पत्थर की मूर्ति के दर्शन से ऐसी शांति प्राप्त होती है जैसी कि स्वयं भगवान बुद्ध के दर्शन से होती है। मुँह, हाथ, पाँव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मजदूरी; परंतु मन के गुप्त भावों और अंतःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम-मजदूरी है। शिवजी के तांडव नृत्य को और पार्वतीजी के मुख की शोभा को पत्थरों की सहायता से वर्णन करना जड़ को चैतन्य बना देना है। इस देश में कारीगरी का बहुत दिनों से अभाव है। महमूद ने जो सोमनाथ के मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तोड़ी थीं उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नहीं होती। उन मूर्तियों को तो हर कोई तोड़ सकता था। उसकी वीरता की प्रशंसा तब होती जब वह यूनान की प्रेम-मजदूरी, अर्थात वहाँ वालों के हाथ की अद्वितीय कारीगरी प्रकट करने वाली मूर्तियाँ तोड़ने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ तो बोल रही हैं - वे जीती जागती हैं, मुर्दा नहीं। इस समय के देवस्थानों में स्थापित मूर्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ़ पत्थर रख दिए जाते तो अधिक शोभा पाते। जब हमारे यहाँ के मजदूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करने वाले भूखों मरते हैं तब हमारे मंदिरों की मूर्तियाँ कैसे सुंदर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिए, बिना शूद्र-राजा के मूर्ति-पूजा किंवा, कृष्ण और शालिग्राम के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है, जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं।

पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड़ रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की पूजा को छोड़कर मनुष्यों की पूजा को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शाने वाले देवता रस्किन और टालस्टॉय आदि हैं। पाश्चात्य देशों में नया प्रभात होने वाला है। वहाँ के गंभीर विचार वाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिए उठ खड़े हुए हैं। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेने वाले पक्षियों की तरह इन महात्माओं को इस नए प्रभात का पूर्व ज्ञान हुआ है। और हो क्यों न? इंजनों के पहिए के नीचे दबकर वहाँ वालों के भाई-बहन - नहीं नहीं उनकी सारी जाति पिस गई; उनके जीवन के धुरे टूट गए, उनका समस्त धन घरों से निकलकर एक ही दो स्थानों में एकत्र हो गया। साधारण लोग मर रहे हैं, मजदूरों के हाथ-पाँव फट रहे हैं, लहू चल रहा है! सर्दी से ठिठुर रहे हैं। एक तरफ दरिद्रता का अखंड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परंतु अमीरी भी मानसिक दुःखों से विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गई थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिए - मजदूरों को सुख देने के लिए - परंतु वे काली-काली मशीनें ही काली बनकर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिए मुख खोल रही हैं। प्रभात होने पर ये काली-काली बलाएँ दूर होंगी। मनुष्य के सौभाग्य का सूर्योदय होगा।

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशों में लोगों को मजदूरी से तो लेशमात्र भी प्रेम नहीं है, पर वे तैयारी कर रहे हैं पूर्वोक्त काली मशीनों का अलिंगन करने की। पश्चिम वालों के तो ये गले पड़ी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही हैं। वे छोड़ना चाहते हैं, परंतु काली कमली उन्हें नहीं छोड़ती। देखेंगे पूर्व वाले इस कमली को छाती से लगाकर कितना आनंद अनुभव करते हैं। यदि हममें से हर आदमी अपनी दस उँगलियों की सहायता से साहसपूर्वक अच्छी तरह काम करे तो हम मशीनों की कृपा से बढ़े हुए परिश्रम वालों को वाणिज्य के जातीय संग्राम में सहज ही पछाड़ सकते हैं। सूर्य तो सदा पूर्व ही से पश्चिम की ओर जाता है। पर आओ पश्चिम से आने वाली सभ्यता के नए प्रभात को हम पूर्व से भेजें।

इंजनों की वह मजदूरी किस काम की जो बच्चों, स्त्रियों और कारीगरों को ही भूखा नंगा रखती है और केवल सोने, चाँदी, लोहे आदि धातुओं का ही पालन करती है। पश्चिम को विदित हो चुका है कि इनसे मनुष्य का दुःख दिन पर दिन बढ़ता है। भारतवर्ष

जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों की मजदूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डंका बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी। चेतन से चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य-जाति के आनंद-मंगल का एक साधारण-सा और महातुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है; ईश्वर को भूल जाना है; अपने भाई-बहनों तथा मानसिक सुख और कल्याण के देने वालों को मारकर अपने सुख के लिए शारीरिक राज्य की इच्छा करना है, जिस डाल पर बैठे हैं उसी डाल को स्वयं ही कुल्हाड़ी से काटना है। अपने प्रियजनों से रहित राज्य किस काम का? प्यारी मनुष्य-जाति का सुख ही जगत् के मंगल का मूल साधन है। बिना उसके सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल हैं। धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चैतन्य-पूजा ही से मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रों से निकलकर बहती है तब वही जगत् में सुख के खेतों को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें, मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक-एक प्याला घर-घर में, कुटिया-कुटिया में रख आवें और सब लोग उसी में मजदूरी का प्रेमामृत पान करें।

है रीत आशिकों की तन मन निसार करना।

रोना सितम उठाना और उनको प्यार करना॥

••••

उत्तराफाल्गुनी के आसपास

कुबेरनाथ राय

वर्षा ऋतु की अंतिम नक्षत्र है उत्तराफाल्गुनी। हमारे जीवन में गदह-पचीसी सावन-मनभावन है, बड़ी मौज रहती है, परंतु सत्ताइसवें के आते-आते घनघोर भाद्रपद के अशनि-संकेत मिलने लगते हैं और तीसी के वर्षों में हम विद्युन्मय भाद्रपद के काम, क्रोध और मोह का तमिस्त्र सुख भोगते हैं। इसी काल में अपने-अपने स्वभाव के अनुसार हमारी सिसृक्षा कृतार्थ होती है। फिर चालीसवें लगते-लगते हम भाद्रपद की अंतिम नक्षत्र उत्तराफाल्गुनी में प्रवेश कर जाते हैं और दो-चार वर्ष बाद अर्थात उत्तराफाल्गुनी के अंतिम चरण में जरा और जीर्णता की आगमनी का समाचार काल-तुरंग दूर से ही हिनहिनाकर दे जाता है। वास्तव में सृजन-संपृक्त, सावधान, सतर्क, सचेत और कर्मठ जीवन जो हम जीते हैं वह है तीस और चालीस के बीच। फिर चालीस से पैंतालीस तक उत्तराफाल्गुनी का काल है। इसके अंदर पग-निक्षेप करते ही शरीर की षटउर्मियों में थकावट आने लगती है, 'अस्ति, जायते, वर्धते' - ये तीन धीरे-धीरे शांत होने लगती हैं, उनका वेग कम होने लगता है और इनके विपरीत तीन 'विपतरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति' प्रबलतर हो उठती हैं, उन्हें प्रदोष-बल मिल जाता है, वे शरीर में बैठे रिपुओं के साथ साँठ-गाँठ कर लेती हैं और फल होता है, जरा के आगमन का अनुभव। पैंतालीस के बाद ही शीश पर काश फूटना शुरू हो जाता है, वातावरण में लोमड़ी बोलने लगती है, शुक और सारिका उदास हो जाते हैं, मयूर अपने श्रृंगार-कलाप का त्याग कर देता है और मानस की उत्पलवर्णा मारकन्याएँ चोवा-चंदन और चित्रसारी त्याग कर प्रव्रज्या का बल्कल-वसन धारण कर लेती हैं। अतः बचपन भले निर्मल-प्रसन्न हो, गदहपचीसी भले ही 'मधु-मधुनी-मधूनि' हो; परंतु जीवन का वह भाग, जिस पर हमारे जन्म लेने की सार्थकता निर्भर है, पच्चीस और चालीस या ठेल-ठालकर पैंतालीस के बीच पड़ता है। इसके पूर्व हमारे जीवन की भूमिका या तैयारी का काल है और इसके बाद 'फलागम' या 'निमीसिस' (Nemesis) की प्रतीक्षा है। जो हमारे हाथ में था, जिसे करने के लिए हम जनमे थे, वह वस्तुतः घटित होता है पच्चीस और पैंतालीस के बीच। इसके बाद तो मन और बुद्धि के वानप्रस्थ लेने का काल है - देह भले ही 'एकमधु-दोमधु-असंख्य-मधु' साठ वर्ष तक भोगती चले। इस पच्चीस-पैंतालीस की अवधि में भी असल हीर रचती है तीसोत्तरी। तीसोत्तरी के वर्षों का स्वभाव शाण पर चढ़ी तलवार की तरह है, वर्ष-प्रतिवर्ष उन पर नई धार, नया तेज चढ़ता जाता है चालीसवें वर्ष तक। मुझे क्रोध आता है उन लोगों पर जो विधाता ब्रह्मा को बूढा कहते हैं और चित्र में तथा प्रतिमा में उन्हें वयोवृद्ध रूप में प्रस्तुत करते हैं। मैंने दक्षिण भारत के एक मंदिर में एक बार ब्रह्मा की एक अत्यंत सुंदर तीसोत्तर युवा-मूर्ति को देखा था। देखकर ही मैं कलाकार की औचित्य-मीमांसा पर मुग्ध हो गया। जो सर्जक है, जो सृष्टिकर्त्ता है, वह निश्चय ही चिरयुवा होगा। प्राचीन या बहुकालीन का अर्थ जर्जर या बूढा नहीं होता है। जो सर्जक है, पिता है, 'प्रॉफेट' है, नई लीक का जनक है, प्रजाता है,

वह रूप-माधव या रोमैंटिक काम-किशोर भले ही न हो, परंतु वह दाँत-क्षरा, बाल-झरा, गलितम् पलितम् मुंडम् कैसे हो सकता है? उसे तो अनुभवी पुंगव तीसोत्तर युवा के रूप में ही स्वीकारना होगा। जवानी एक चमाचम धारदार खड्ग है। उस पर चढ़कर असिधाराव्रत या वीराचार करनेवाली प्रतिभा ही पावक-दग्ध होंठों से देवताओं की भाषा बोल पाती है। युवा अंग के पोर-पोर में फासफोरस जलता है और युवा-मन में उस फासफोरस का रूपांतर हजार-हजार सूर्यों के सम्मिलित पावक में हो जाता है। मेरी समझ से सृष्टिकर्त्ता की, कवि की, विप्लव नायक की, सेनापति की, शूरवीर की, विद्रोही की कल्पना श्वेतकेश वृद्ध के रूप में नहीं की जा सकती। अतः प्रजापति विधाता को सदैव तीस वर्ष के पट्ठे सुंदर, युवा के सुंदर रूप में ही कल्पित करना समीचीन है।

वास्तव में तीसवाँ वर्ष जीवन के सम्मुख फण उठाए एक प्रश्न-चिह्न को उपस्थित करता है और उस प्रश्न-चिह्न को पूरा-पूरा उसका समाधान-मूल्य हमें चुकाना ही पड़ता है। किसी भी पुरुष या नारी की कीर्ति-गरिमा, इसी प्रश्न-चिह्न की गुरुता और लघुता पर निर्भर करती है। गौतम बुद्ध ने उनतीस वर्ष की अवस्था में गृह त्याग कर अमृत के लिए महाभिनिष्क्रमण किया। यीशु क्राइस्ट ने तीस वर्ष की अवस्था में अपना प्रथम संदेश 'सरमन ऑन दी माउंट' (गिरिशिखिर-प्रजनन) दिया था और तैंतीसवें वर्ष में उन्हें सलीब पर चढ़ा दिया गया। उनका समूचा उपदेश काल तीन वर्ष से भी कम रहा। वाल्मीकि के अनुसार रामचंद्र को भी तीस के आसपास ही (वास्तव में 27 वर्ष की वयस में) वनवास हुआ था। उस समय सीता की आयु अठारह वर्ष की थी और वनवास के तेरहवें वर्ष में अर्थात सीता के तीसवाँ पार करते-करते ही सीताहरण की ट्रेजेडी घटित हुई थी। अतः तीसवाँ वर्ष सदैव वरण के महामुहूर्त्त के रूप में आता है और संपूर्ण दशक उस वरण और तेज के दाह से अविष्ट रहता है। तीसोत्तर दशक जीवन का घनघोर कुरुक्षेत्र है। यह काल गदहपचीसी के विपरीत एक क्षुरधार काल है, जिस पर चढ़कर पुरुष या नारी अपने को अविष्कृत करते हैं, अपने मर्म और धर्म के प्रति अपने को सत्य करते हैं तथा अपनी अस्तित्वगत महिमा उद्घाटित करते हैं अथवा कम-से-कम ऐसा करने का अवसर तो अवश्य पाते हैं। चालीसा लगने के बाद पैंतालीस तक 'यथास्थिति' की उत्तराफाल्गुनी चलती है। पर इसमें ही जीवन की प्रतिकूल और अनुकूल उर्मियाँ परस्पर के संतुलित को खोना प्रारंभ कर देती हैं और प्राणशक्ति अवरोहण की ओर उन्मुख हो जाती है। इसके बाद अनुकूल उर्मियाँ स्पष्टतः थकहर होने लगती हैं और प्रतिकूल उर्मियाँ प्रबल होकर देह की गाँठ-गाँठ में बैठे रिपुओं से मेल कर बैठती हैं, मन हारने लगता है, सृष्टि अनाकर्षक और रति प्रतिकूल लगने लगती है, बुद्धि का तेज घट जाता है और वह स्वीकारपंथी (कनफर्मिस्ट) होने लगती है एवं आत्मा की दाहक तेजीमयी शक्ति पर विकार का धूम्र छाने लगता है। मैं तो यहाँ पर पैंतालीसवें वर्ष की बात कर रहा हूँ। परंतु मुझे स्मरण आती है दोस्तीव्हस्की - जिसने चालीस के बाद ही जीवन को धिक्कार दे दिया था : 'मैं चालीस वर्ष जी चुका। चालीस वर्ष ही तो असली जीवन-काल है। तुम जानते हो कि चालीसवाँ माने चरम बुढ़ापा। दरअसल चालीस से ज्यादा जीना असभ्यता है, अश्लीलता है, अनैतिकता है। भला चालीस से आगे कौन जीता है? मूर्ख लोग और व्यर्थ लोग' ('नोट्स फ्रॉम अंडर ग्राउंड' से) दोस्तोव्हस्की की इस उक्ति का यदि शाब्दिक अर्थ न लिया जाय

तो मेरी समझ से इसका यही अर्थ होगा कि चालीस वर्ष के बाद जीवन के सहज लक्षणों का, परिवर्तन-परिवर्धन-सृजन का आत्मिक और मानसिक स्तरों पर ह्रास होने लगता है। पर मैं 'साठा तब पाठा' की उक्तिवाली गंगा की कछार का निवासी हूँ, इसी से इस अवधि को पाँच वर्ष और आगे बढ़ाकर देखता हूँ, यद्यपि दोस्तोव्हस्की की मूल थीसिस मुझे सही लगती है। शक्तिक्षय की प्रक्रिया चालीस के बाद ही प्रारंभ हो जाती है, यद्यपि वह अस्पष्ट रहती है।

मैं इस समय 1972 ईस्वी अपना अड़तीसवाँ पावस झेल रहा हूँ। पूर्वाफाल्गुनी का विकारग्रस्त यौवन जल पी-पीकर मैं 'क्षिप्त' से भी आगे एक पग 'विक्षिप्त' हो चुका हूँ और शीघ्र ही मोहमूढ होनेवाला हूँ! भाद्र की पहली नक्षत्र है मघा। मघा में अगाध जल है। पृथ्वी की तृषा आश्लेषा और मघा के जल से ही तृप्त होती है। यदि मघा में धरती की प्यास नहीं बुझी तो उसे अगले संवत्सर तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। न केवल परिमाण में, बल्कि गुण में भी मघा का जल श्रेष्ठ है। मघा-मेघ की झड़ी झकोर का स्तव-गान कवि और किसान दोनो खूब करते हैं : 'बरसै मघा झकोरि-झकोरी। मोर दुइ नैन चुवै जस ओरी।' मघा बरसी, मानो दूध बरसा, मधु बरसा। इस मघा के बाद आती है पूर्वाफाल्गुनी जो बड़ी ही रद्दी-कंडम नक्षत्र है। इसका पानी फसल जायदाद के लिए हानिकारक तो है ही, उत्तर भारत में बाढ़-वर्षा का भय भी सर्वाधिक इसी नक्षत्र-काल में रहता है। इसी से उत्तर भारतीय गंगातीरी किसान इसे एक कीर्तिनाशा-कर्मनाशा नक्षत्र मानते हैं। इसके बाद आती है उत्तराफाल्गुनी, भाद्रपद की अंतिम नक्षत्र, जो समूचे पावस में मघा के बाद दूसरी उत्तम नक्षत्र है। इसका पानी स्वास्थ्यप्रद और सौभाग्यकारक होता है। इस अड़तीसवें पावस में अपने जीवन का पूर्वाफाल्गुनी काल भोग रहा हूँ, यद्यपि साथ-ही साथ द्वार पर उत्तराफाल्गुनी का आगमन भी देख रहा हूँ। चालीस आने में अब कितनी देर ही है।

अतः आज पूर्वाफाल्गुनी का अंतिम पानपात्र मेरे होंठों से संलग्न है। क्रोध मेरी खुराक है, लोभ मेरा नयन-अंजन है और काम-भुजंग मेरा क्रीड़ा-सहचर है। इनको ही मैं क्रमशः विद्रोह, प्रगति और नवलेखन कहकर पुकारता हूँ। भले ही यह विकार-जल हो, भले ही इसमें श्रेय-प्रेय, गति-मुक्ति कुछ भी न हो। परंतु इसमें जीर्णता और जर्जरता नहीं। यह जरा और वृद्धत्व का प्रतीक नहीं। पूर्वाफाल्गुनी द्वारा प्रदत्त विक्षिप्तता भी यौवन का ही एक अनुभव है। मुझे लग रहा था कि मेरे भीतर कोई उपंग बजा रहा है क्योंकि मेरे सम्मुख द्वार पर काल-नट्टिन अर्थात् उत्तराफाल्गुनी त्रिभंग रूप में खड़ी है और मैं उसमें मार की तीन कन्याओं तृषा-रति-आर्त्ति को एक साथ देख रहा हूँ। कांचनपद्म कांति, कर-पल्लव, कुणितकेश, बिंबाधर, विशाल बंकिम भ्रू, दक्षिणावर्त नाभि, और त्रिवली रेखा से युक्त इस भुवन-मोहन रूप को मैं देख रहा हूँ और इसको आगमनी में अपने भीतर बजती उपंग को निरंतर सुन रहा हूँ। उपंग एक विचित्र बाजा है। काल-पुरुषों की उँगलियाँ चटाक-चटाक पड़ती है और आहत नाद का छंदोबद्ध रूप निकलता है बीच-बीच में हिचकी के साथ। यह हिचकी भी उसी काल-विदूषक की भँड़ैती है और यह उपंग के तालबद्ध स्वर को अधिक सजीव और मार्मिक कर देती है। मैं अपने भीतर बजते यौवन का यह उपंग-संगीत सुन रहा हूँ और अपने मनोविकारों का छककर पान कर रहा

हूँ। मुझे कोई चिंता नहीं। अभी वानप्रस्थ का शरद काल आने में काफी देर है। इस क्षण उसकी क्या चिंता करूँ? इस क्षण तो बस मौज ही मौज है, भले ही वह कटुतिक्त मौज क्यों न हो; काम भुजंग के डँसने पर तो नीम भी मीठी लगती है। अतः यह काल-नटी, यह पूर्वाफाल्गुनी या उत्तराफाल्गुनी, यह 'नैनाजोगिन' कितनी भी भ्रान्ति, माया या मृगजल क्यों न हो, मैं इसके रूप में आबद्ध हूँ। इसमें मुझे वही स्वाद आ रहा है जो मायापति भगवान को अपनी माया के काम मधु का स्वाद लेते समय प्राप्त होता है और जिस स्वाद को लेने के लिए वे परमपद के भास्वर सिंहासन को छोड़कर हम लोगों के बीच बार-बार आते हैं। अतः इस समय मुझे कोई चिंता, कोई परवाह नहीं।

परंतु एक न एक दिन वह क्षण भी निश्चय ही उपस्थित होगा जिसकी श्रृंगारहीन शरद यवनिका के पीछे जीर्ण हेमंत और मृत्युशीतल शिशिर की प्रेतछाया झलकती रहेगी। 'उस दिन, तुम क्या करोगे? है तुम्हारे पास कोई बीज-मंत्र, कोई टोटका, कोई धारणी-मंत्र जिससे तुम अगले बीस-बाईस वर्षों के लिए इस उत्तराफाल्गुनी के पगों को स्तंभित कर दो और वह अगले बीस-बाईस वर्ष तुम्हारे द्वारदेश पर, शिथिल दक्षिण चरण, ईषत कृंचित जानु के साथ आभंग मुद्रा में नतग्रीव खड़ी रहे और तुम्हारे हुकुम की प्रतीक्षा करती रहे? है कोई ऐसा जीवन-दर्शन, ऐसा सिद्धाचार, ऐसी काया सिद्धि जिससे बाहर-बाहर शरद-शिशिर, पतझार-हेमंत आएँ और जूझते-हार खाते चले जाएँ। परंतु मनस की द्वार-देहरी पर यह उत्तराफाल्गुनी एक रस साठ वर्ष की आयु तक बनी रहे? है कोई ऐसा उपाय? यह प्रश्न रह-रहकर मैं स्वयं अपने ही से पूछता हूँ। आज से तेरह वर्ष पूर्व भी मैंने इस प्रश्न पर चिंता की थी और उक्त चिंतन से जो समाधान निकला उसे मैंने कार्य-रूप में परिणत कर दिया। परंतु इन तेरह वर्षों में असंख्य भाव-प्रतिभाओं के मुंडपात हुए हैं और आज मैं मूल्यों के कबंध-वन में भाव-प्रतिभाओं के केतु-कांतार में बैठा हूँ। आज जगत वही नहीं रहा जो तेरह वर्ष पूर्व था। एक ग्रीक दार्शनिक की उक्ति है कि एक नदी में हम दुबारा हाथ नहीं डाल सकते, क्योंकि नदी की धार क्षण-प्रतिक्षण और ही और होती जा रही है। काल-प्रवाह भी एक नदी है और इसकी भी कोई बूँद स्थिर नहीं। अतः शताब्दी के आठवें दशक के इस प्रथम चरण में मुझे उसी प्रश्न को पुनः-पुनः सोचना है : कैसे जीर्णता या जरा को, यदि संपूर्णतः जीतना असंभव हो तो भी फाँकी देकर यथासंभव दूरी तक वंचित रखा जाए? कैसे अपने दैहिक यौवन को नहीं, तो मानसिक यौवन को ही निरंतर धारदार और चिरंजीवी रखा जाय? उस दिन तो मैंने सीधा-सीधा उत्तर ढूँढ निकाला था : 'ययाति की तरह पुत्रों से यौवन उधार लेकर।' अर्थात मैं कोई नौकरी न करके कॉलेज में अध्यापन करूँ तो मुझ पचपन या साठ वर्ष की आयु तक युवा शिष्य-शिष्याओं के मध्य वास करने का अवसर सुलभ होगा। मैं इनकी आशा-आकांक्षा, उत्साह, साहस, उद्यमता आदि से वैसे ही अनुप्राणित और आविष्ट रहूँगा जैसे चुंबकीय आकर्षण-क्षेत्र में पड़कर साधारण लोहा भी चुंबक बन जाता है।

परंतु विगत दशक के अंतिम दो वर्षों में जब मेरे ये बालखिल्य सहचरगण छिन्नमस्ता राजनीति के रँगरूट बनने लगे, जब इन्होंने मेरे गुरुओं, गांधी-विवेकानंद-विद्यासागर-सर आशुतोष, की प्रतिमाओं का एवं उनके द्वारा प्रति-

पादित मूल्यों का, अनर्गल मुंडपात करना शुरू कर दिया, जब इनके नए दार्शनिकों ने कहना प्रारंभ किया कि आध्यापक और छात्र के बीच भी श्रेणी-शत्रुओं का संबंध है क्योंकि अध्यापक भी 'स्थापित व्यवस्था' का एक अंग है और 'व्यवस्था' का भंजन ही श्रेष्ठतम पुरुषार्थ है, तब देश में घटित होती हुई इन घटनाओं पर विचार करके और क्रांति तथा 'नई पीढ़ी' के दार्शनिकों - यथा हिबर्ट मारक्यूज, चेग्वारा, ब्रैंडिटकोह्न आदि की चिंतनधारा से यथासंभव अल्प स्वल्पे परिचय पा करके मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मैं इन अपने भाइयों, अपने हृदय के टुकड़ों के साथ जो आज छिन्नमस्ता राजनीति के रँगरूट हैं, कुछ ही दूर तक, आधे रास्ते ही जा सकता हूँ। विविध प्रकार के नारों से आक्रांत ये नए 'पुरूरवा' ('पुरूरवा' का शब्दार्थ होता है 'रवों' (आवाजों या नारों) से आक्रांत या पूरित पुरुष। 'ययाति' पुरानी पीढ़ी का प्रतीक है तो पुरूरवा नई पीढ़ी का।) यदि मुझे यौवन उधार देंगे भी तो बदले में मुझे भी कबंध में रूपांतरित होने को कहेंगे। और मैं कैसे अपना चेहरा, अपनी आत्म-सत्ता, अपना व्यक्तित्व त्याग दूँ? 'छिन्नमस्त' पुरुष बनकर यौवन लेने से क्या लाभ? बिना मस्तक के बिना अपने निजी नयन-मुख-कान के इस उधार प्राप्त नवयौवन का नया अर्थ होगा? रूप, रस, गंध और गान से वंचित रह जाऊँगा। केवल शिश्नोदरवाला व्यक्तित्व लेकर कौन जीवन-यौवन भोगना चाहेगा? कम-से-कम बुद्धिजीवी तो नहीं ही। आत्मार्थ पृथिवी त्यजेत? अतः मुझे चिरयौवन को इन शिष्य-पुरूरवाओं की नई पीढ़ी से दान के रूप में नहीं लेना है। तेरह वर्ष पहले का चिंतित समाधान आज व्यर्थ सिद्ध हो गया है। मुझे अन्यत्र चिरयौवन का अनुसंधान करना है। कहीं-न-कहीं मेरे ही अंदर अमृता कला की गाँठ होगी। उसे ही मुझे आविष्कृत करना होगा। जो बाहर-बाहर अप्राप्य है वह सब-कुछ भीतर-भीतर सुलभ है। मैं अपने ही हृदय समुद्र का मंथन करके प्राण और अमृत के स्रोत किसी चंद्रमा को आविष्कृत करूँगा। तेरह वर्ष पुराना समाधान आज काम नहीं आ सकता।

मैं मानता हूँ कि समाज और शासन में शब्दों के व्यूह के पीछे एक कपट पाला जा रहा है। मैं बालखिल्यों के क्रोध की सार्थकता को स्वीकार करता हूँ। पर साथ ही छिन्नमस्ता शैली के सस्ते रंगांध और आत्मघाती समाधान को भी मैं बेहिचक बिना शील-मुरौवत के अस्वीकार करता हूँ। अपना मस्तक काटकर स्वयं उसी का रक्त पीना तंत्राचार-वीराचार हो सकता है परंतु यह न तो क्रांति है और न समर। पुरानी पीढ़ी का चिरयक्षत्व मुझे भी अच्छा नहीं लगता। मैं भी चाहता हूँ कि वह पीढ़ी अब खिजाब-आरसी का परित्याग करके संन्यास ले ले। शासन और व्यवस्था के पुतली घरों की मशीन-कन्याएँ उनकी बूढ़ी उँगलियों के सूत्र-संचालन से ऊब गई हैं और उनकी गति में रह-रह कर छंद-पतन हो रहा है। यह बिल्कुल न्याय-संगत प्रस्ताव है कि पूर्व पीढ़ी अपनी मनुस्मृति और कौपीन बगल में दबाकर पुतलीघर से बाहर हो जाय और नई पीढ़ी को, अर्थात हमें और हमारे बालखिल्यों को अपने भविष्य के यश-अपयश का पट स्वयं बुनने का अवसर दे जिससे वे भी अपने कल्पित नक्शे, अपने अर्जित हुनर को इस कीर्तिपट पर काढ़ने का अवसर पा सकें। यह सब सही है। परंतु क्या इन सब बातों की संपूर्ण सिद्धि के लिए इस पुतलीघर का ही अग्निदाह, पुरानी पीढ़ी द्वारा बुने कीर्तिपट के विस्तार का दाह, उनके श्रम फल का तिरस्कार आदि आवश्यक हैं? क्या ऐसा सब करना एक

आत्मघाती प्रक्रिया नहीं? इस स्थल पर डॉ. राधाकृष्णन या आचार्य विनोबा भावे की राय को उद्धृत करूँ तो वह क्रांति के इन 'दुग्ध कुमारों' के लिए कौड़ी की तीन ही होगी। अतः मैं लेनिन जैसे महान क्रांतिकारी की राय उद्धृत कर रहा हूँ! 1922 ई. में लेनिन ने लिखा था, 'उस सारी सभ्यता-संस्कृति को जो पूँजीवाद निर्मित कर गया है, हमें स्वीकार करना होगा। और उसके द्वारा ही समाजवाद गढ़ना होगा। पूर्व पीढ़ी के सारे ज्ञान, सारे विज्ञान, सारी यांत्रिकी को स्वीकृत कर लेना होगा। उसकी सारी कला को स्वीकार कर लेना होगा... हम सर्वहारा संस्कृति के निर्माण की समस्या तब तक हल नहीं कर सकते जब तक यह बात साफ-साफ न समझ लें कि मनुष्य जाति के सारे विकास और संपूर्ण सांस्कृतिक ज्ञान को आहरण किए बिना यह संभव नहीं, और उसे समझ कर सर्वहारा संस्कृति की पुनर्रचना करने में हम सफल हो सकेंगे। 'सर्वहारा संस्कृति' अज्ञात शून्य से उपजनेवाली चीज नहीं और न यह उन लोगों के द्वारा गढ़ी ही जा सकती है जो सर्वहारा संस्कृति के विशेषज्ञ विद्वान कहे जाते हैं ये सब बातें मूर्खतापूर्ण है। इनका कोई अर्थ नहीं होता। 'सर्वहारा संस्कृति' उसी ज्ञान का स्वाभाविक सहज विकास होगी जिसे पूँजीवादी, सामंतवादी और अमलातांत्रिक व्यवस्थाओं के जुए के नीचे हमारी संपूर्ण जाति ने विकसित किया है।' यह बात स्वामी दयाननंद या पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी की होती तो बड़ी आसानी से कह सकते 'मारो गोली! सब बूर्ज्वा बकवास है।'; पर कहता है क्रांतिकारियों का पितामह लेनिन, जिसे एक कट्टर बंगाली मार्क्सवादी नीरेंद्रनाथ राय ने अपनी पुस्तक 'शेक्सपियर-हिज ऑडिएंस' के पृष्ठ (49-50) पर उद्धृत किया है। आज प्रायः लोग पुकारकर कहते हैं : 'देखो, देखो जोखिम उठा रहा हूँ, मूल्य भंजन कर रहा हूँ। अरे बंधु, जोखिम उठा रहे हो या नाम कमा रहे हो? यह तो आज अपने को प्रतिष्ठित बनाने और जाग्रत सिद्ध करने का सबसे सटीक तरीका 'शॉर्टकट' यानी तिरछा रास्ता है। जोखिम तुम नहीं उठा रहे हो तुम तो धार के साथ बह रहे हो और यह बड़ी आसान बात है। आज जोखिम वह उठा रहा है जो नदी की वर्तमान धारा के प्रतिकूल, धार के हुकुम को स्वीकारते हुए कह रहा है : 'मूल्य भी क्या तोड़ने की चीज है जो तोड़ोगे? वह बदला जा सकता है तोड़ा नहीं जा सकता। मूल्य स्थिर या सनातन नहीं होता, यह भी मान लेता हूँ। परंतु एक अविच्छिन्न मूल्य-प्रवाह, एक सनातन मूल्य-परंपरा का अस्तित्व तो मानना ही होगा।' नए बालखिल्य दार्शनिक कहेंगे - 'यह धार के विपरीत जाना हुआ। यह तो प्रतिक्रियावाद है।' ऐसी अवस्था में मेरा उन्हें उत्तर है : 'कभी-कभी नदी की धार पथभ्रष्ट भी हो जाती है। वह सदैव प्रगति की दिशा में ही नहीं बहती। वह स्वभाव से अधोगति की ओर जानेवाली होती है। और आज? आज तो वन्याकाल है। वन्याकाल में धार पथभ्रष्ट रहती है। वह कर्मनाशा-कीर्तिनाशा-कालमुखी बनकर हमारे गाँव को रसातल में पहुँचाने आ रही है। अतः इस क्षण हमारी प्यारी नदी ही शत्रुरूपा हो गई है। और यदि गाँव को बचाना है तो हम धार के प्रतिकूल समर करेंगे। यदि हम अपना घर-द्वार फूँककर तमाशा देखकर मौज लेनेवाले आत्मभोगी 'नीरो' की संतानें नहीं है तो हमें इस नदी से समर करना ही होगा। यही हमारी जिजीविषा की माँग है। और इसके प्रतिकूल जो कुछ कहा जा रहा है, वह 'नई पीढ़ी' की बात हो या पुरानी की, मुमुक्षा का मुक्ति भोग है। यह सब विद्रोह नहीं बूर्ज्वा डेथविश का नया रूप है।'

अतः मै धार के साथ न बहकर अकेले-अकेले अपने अंदर की अमृता कला का अविष्कार करने को कृत संकल्प हूँ। बिना रोध के, बिना तट के जो धार है वह कालमुखी वन्या है, रोधवती और तटिनी नहीं। यों यह तो मैं मानता ही हूँ कि सर्जक या रचनाकार के लिए 'नॉनकनफर्मिस्ट' होना जरूरी है। इसके बिना उसकी सिसृक्षा प्राणवती नहीं हो पाती और नई लीक नहीं खोज पाती। अतः मुझे भी विद्रोही दर्शनों से अपने को किसी न किसी रूप में आजीवन संयुक्त रखना ही है। एक लेखक होने के नाते यही मेरी नियति है, और इस तथ्य को अस्वीकृत करने का अर्थ है अपनी सिसृक्षा की सारी संभावनाओं का अवरोध। परंतु लेखक, कवि या किसी भी साहित्येतर क्षेत्र के सर्जक या विधाता को यह बात भी गाँठ में बाँध लेनी चाहिए कि शत-प्रतिशत अस्वीकार या 'नॉनकनफर्मिज्म' से भी रचना या सृजन असंभव हो जाता है। पुराने के अस्वीकार से ही नए का आविष्कार संभव है। यह कुछ हद तक ठीक है। परंतु नए भावों या विचारों के 'उद्गम' के बाद 'उपकरण' या अभिव्यक्ति के साधन का प्रश्न उठता है और इसके लिए 'नॉनकनफर्मिज्म' को त्यागकर पचहत्तर प्रतिशत पुराने उपकरणों में से ही निर्वाचित-संशोधित करके कुछ को स्वीकार कर लेना होता है। रचना की 'आइडिया' के आविष्कार के लिए तो अवश्य 'विद्रोही मन' चाहिए। परंतु रचना का कार्य (प्रॉसेस) आइडिया के आविष्कार के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। रचना-प्रक्रिया में 'स्वीकारवादी मन' की भी उतनी ही आवश्यकता है। अन्यथा 'आइडिया' या ज्ञान का 'क्रिया' में रूपांतर संभव नहीं। अतः प्रत्येक सर्जक या विधाता, जीवन के चाहे जिस क्षेत्र की बात हो, 'विद्रोही' और 'स्वीकारवादी' दोनों साथ ही साथ होता है। 'शत-प्रतिशत अस्वीकार' के फैशनेबुल दर्शन के प्रति मेरा आक्षेप यह भी है कि यह एक स्वयं आरोपित 'नो एक्जिट' (द्वारा या वातायन रहित अवरुद्ध कक्ष) है, इसको लेकर बहुत आगे तक नहीं जाया जा सकता है। यह दर्शन विषय और विधा दोनों की नकारात्मक सीमा बाँधकर बैठा है। और इसके द्वारा अपने 'स्व' को भी पूरा-पूरा नहीं पहचाना जा सकता है; तो 'स्व' से बाहर, इतिहास और समाज को समझने की तो बात ही नहीं उठती। यह 'शत-प्रतिशत अस्वीकार' का दर्शन कभी अस्तित्ववाद का चेहरा लेकर आता है तो कभी नव्य मार्क्सवाद का (क्लासिकल मार्क्सवाद से भिन्न); और ये दोनों मानसिक-बौद्धिक स्तर पर मौसेरे भाई हैं। ये एक ही ह्रासोन्मुखी संस्कृति की संतानें हैं। योगशास्त्र में मन की पाँच अवस्थाएँ कही गई हैं : क्षिप्त, विक्षिप्त, विमूढ, निरुद्ध और आरूढ़। ये दोनों दर्शन विमूढ स्थिति के दो भिन्न संस्करण हैं, अतः दोनों त्याज्य हैं।

यह बाढ़-वन्या का काल है। नदी अपनी दिशा भूलकर, कूल छोड़कर उन्मुक्त हो गई है, अतः बुद्धजीवी वर्ग से धीरता और संयम अपेक्षित है। घबराकर वन्या की पथभ्रष्ट धार के प्रति आत्मसमर्पण करने की अपेक्षा जल के उत्तरण, वन्या के 'उतार' की प्रतीक्षा करना अधिक उचित है। पानी हटने पर नदी फिर कूलों के बीच लौट जाएगी। नदी अपनी शय्या यदि बदल भी दे, तो भी नई शय्या के साथ कोई कूल, कोई अवरोध तो उसे स्वीकार करना ही होगा। यह नया कूल भी उसी पुराने कूल के ही समानान्तर होगा। नदी तब भी समुद्रमुखी ही रहेगी। उलटकर हिमाचलमुखी कभी नहीं हो सकती। अतः इस वन्या नाट्य के विष्कंभक के बीच का समय मैं न तो बहुत महत्वपूर्ण मानता हूँ और न बहुत

चिंताजनक। मैं बिल्कुल अविचलित हूँ। मेरा विश्वास है कि कल नहीं तो परसों हम अर्थात पुरानी पीढ़ी का युवा और मेरे बालखिल्य छात्र-छात्राएँ अर्थात नई युवा पीढ़ी, दोनों मिलकर इस शासन एवं व्यवस्था के पुतलीघर की नृत्य कन्याओं के कत्थक नृत्य को साथ-साथ संचालित करेंगे। यह पुतलीघर ऐसा है कि इसमें अनुशासित संयमित तालबद्ध कत्थक ही चल सकता है। अन्यथा जरा भी छंद पतन होने पर कोई न कोई भयावह पुतली एक ही झपट्टे में हड्डी आँत तक का भक्षण कर डालेगी क्योंकि इन पुतलियों में से कोई-कोई विषकन्याएँ भी हैं। अतः मैं चेष्टा करूँगा कि अपने अंदर की अमृता कला का आविष्कार करके इस उत्तराफाल्गुनी काल को बीस बाइस वर्ष के लिए अपने अंतर में स्थिर अचल कर दूँ, बाहर-बाहर चाहे शरद बहे या निदाघ हू-हू करे। तब मैं अपने बालखिल्य सहचरों के साथ व्यवस्था की इन पुतलियों का छंदोबद्ध नृत्य भोग सकूँगा। और एक दिन वह भी आएगा जब कोई चिल्लाकर मेरे कानों में कहेगा 'फाइव ओ' क्लाक! पाँच बज गए!' कोई मेरे शीश पर घंटा बजा जाएगा, कोई मेरे हृदय में बोल जायगा : 'बहुत हुआ। बहुत भोगा। अब नहीं। अब, अहं अमृतं इच्छामि। अहं वानप्रस्थ चरिष्यामि।' और तब मैं व्यवस्था के पुतलीघर की इन यंत्रकन्याओं से माफी माँगकर उत्तर-पुरुष की जय जयकार बोलते हुए मंच से बाहर आ जाऊँगा और अपने को विसर्जित कर दूँगा लोकारण्य में, खो जाऊँगा अपरिचित, वृक्षोपम, अवसर प्राप्त, रिटायर्ड स्थाणुओं के महाकांतार में। पर अभी नहीं। अभी तो मैं विश्वेश्वर के साँड़ की तरह जवान हूँ।

•••

उठ जाग मुसाफिर

~*~

वहाँ जाते समय कल्पना कर रहा था कि सदा की भाँति तन-मन से पूर्ण स्वस्थ होंगे, पूर्ववत धधाकार सहास मिलेंगे, सदाबहार से दिखेंगे, फुल्ल कुसमित। ऐसी संक्रामक नीरोगता की प्रतिमूर्ति के चाहक-ग्राहक कम नहीं होते। सो घिरे होंगे गाँव के या इधर-उधर के प्रबुद्ध लोगों से। कुछ ले लो इस अंतिम आदमी से। क्या लोगे भाई? कहाँ टिक रहे हैं उनके गुरु गंभीर जीवनानुभव या चिंतन-निष्कर्ष तुम्हारी फटी झोली में? अच्छा, चलो मनोरंजन ही सही। पिछली बार गया तो एक सवाल खड़ा मिला, 'आपने इतना बड़ा पुस्तकालय गाँव में खड़ा तो कर दिया पर कोई पुस्तक पढ़नेवाला नहीं रहा तो उसका क्या होगा?'

प्रश्न सुनकर मास्टर साहब अर्थात् जगदीश बाबू का चिरपरिचित मुक्तहास बिखर गया और आधा उत्तर तो प्रश्नकर्ताओं को जैसे इसी में मिल गया कि यह भी कोई प्रश्न है? और यदि है तो इसे स्वयं से पूछो। शेष आधे उत्तर के रूप में पूरे आत्मविश्वास के साथ एक प्रश्न ही उन्होंने उछाल दिया, 'अरे भाई, रात होती है, अँधेरा होता है तो तुम चाहो या ना चाहो, प्रभात का प्रकाश स्वयमेव उतर आता है कि नहीं?' और फिर वही मुक्त मृदुमंद हास! और तब ऐसा लगा था जैसे दिनकर की कविता-पंक्तियाँ आकर खड़ी हो मास्टर साहब के पक्ष में गवाही दे रही हैं, 'जवानी की आँखों में ज्वाला होती है, बुढ़ापे की आँखों में प्रकाश होता है!' और यही कारण है कि—

जवानी संचय होती है
बुढ़ापा दान होता है
जवानी सुंदर होती है
बुढ़ापा महान् होता है।

लो, गाँववालों, बहुत लगन के साथ जवानी में संचित किया यह विशाल पुस्तकालय आयु के पंचानबे पड़ाव पर तुम्हें सौंप रहा हूँ। सँभालो अपनी थाती। और तब वे क्या सचमुच महान् नहीं हो जाते?

लेकिन इस महानता की कल्पना को तब गहरा धक्का लगा जब उन्हें बेहाल हीन स्थिति में देखा। 'जरा तुषारभिहंता शरीर सरोजिनी?' पूरा श्लोक मुँह से कढ़ते-कढ़ते रह गया। नहीं, अभी प्राण-भ्रमर उसे छोड़ कहीं जानेवाला नहीं। मात्र निश्चेष्ट उतान पड़े सोए हैं। चौकी पर बिस्तर नहीं। अधोवस्त्र के रूप में मात्र खादी का अंडर विअर है और खादी का ही एक पुराना गमछा ओढ़े-जैसे हैं। वस्त्र दोनों साफ-सुथरे नहीं। फिर एक धक्का लगा। खादी के चमाचम धवल धुले वस्त्रों के लिए वे एक प्रतिमान समझे जाते हैं। उत्तराभिमुख बैठकखाने के आगे लता-पत्रादि से घिरे पूरे प्रांगण को घेरकर जो एक अरगनी है वह बराबर आँखों पर चढ़ने वाले कपड़ों, धुलने के बाद सूखने के लिए डाले गए वस्त्रों, धोती, कुरता, बंडी, चादर और गमछा आदि से सज्जित मिलती। यह उनकी एक विशिष्ट पहचान रही। आगंतुक इन्हें देखकर अनुमान कर लेता, वे मौजूद हैं।···तो, मौजूद तो वे आज भी हैं पर यह कैसी बीमार बेपहचान मौजूदगी? कोई व्यक्ति पास नहीं है तो क्या मान लें कि—

'बूढ़ों के साथ लोग कहाँ तक वफा करें?
लेकिन न आती मौत तो बूढ़े भी क्या करें?'

लेकिन, स्थिति ऐसी नहीं थी। वहाँ न तो सेवा करनेवालों का अभाव था और न ही मौत का इंतजार था। मात्र वे बीमार थे। कभी बीमार न पड़नेवाला आदमी बीमार था। यही कारण था कि 'आश्रम एक

सुहावन पावन' जैसा वह आवास उदास था। उधर मैं अपने सोच में डूबा था, उधर कई लोग वहाँ पहुँचकर उन्हें जगाने लगे थे, ''बाबा, बाबा, यह देखिए, आप से मिलने कौन आए हैं?''

आँखें खोलकर मेरी ओर देखते उन्होंने कहा, 'शरदचंद्रजी! बैठ जाइए।' अर्थात् वे मुझे पहचान न सके। शरदचंद्र उनके विद्यालय के प्राचार्य का नाम था। बहुत कड़वा सत्य था। भीतर बेचैनी होने लगी। सामने वे ही तो हैं पर यह कौन बोल रहा है? कितना क्रूर, कठोर और दुर्दम है समय के हाथों इस प्रकार झटक दिया जाना! उनके एक स्वजन ने कान के पास मुँह कर जोर से जब मेरा नाम बताया तो जैसे तरंगित हो गए, सोए-सोए सुपरिचित खुले हुए ऊँचे स्वर में बोले, क्षमा, बारंबार, क्षमा···हजार बार, क्षमा···बैठिए···बैठिए शरीर है न···ठीक हो जाता है तो पिछली बार की तरह बनारस चला जाएगा। ···आप कहेंगे तो आगे इलाहाबाद या फिर दिल्ली तक चले चलेंगे।···अरे, आपको चाय पिलाओ, भाई···भोजन का भी वक्त है···फिर न हो तो आज पुस्तकालय के लिए एक बैठक भी कर लेंगे।' बोलते-बोलते एकदम चुप हो गए। लगा कि बोलने में कठिनाई हो रही है। खुले हुए ऊँचे नीरोग जैसे स्वर की ठनक तो वही थी पर उसका आत्मविश्वास से पूर्ण पहले जैसा स्वाभाविक ताप नहीं था और ठंडापन छिप नहीं रहा था। सामनेवाला चकितकारी सत्य बहुत आहत कर रहा था। एक साल के भीतर ही यह क्या हुआ? क्या सचमुच बुढ़ापा अचानक धमककर चकित कर देता है कि अरे, यह क्या हुआ? राष्ट्रीय स्तर के एक विद्यामंदिर के इस तेजस्वी शिक्षक, गांधीवादी चिंतन और जीवन-शैली में आजीवन रसे-बसे सदाबहार, स्वास्थ्य के लिए प्रसिद्ध ग्राम मनीषी तथा सुरुचिपूर्ण सुवेश में सदा सहास मिलनेवाले इस समाजसेवी को ऐसे बेहाल कैसे देख रहा हूँ?

···लेकिन बेहाल कैसे? संभवत: यह नियति और जिजीविषा का संघर्ष है। अभी यात्राएँ करनी हैं। पुस्तकालय के भविष्य को सँवारना है। इस बुद्धिजीवी के भीतर कोई कवींद्र दीपित दीख रहा है, 'मरिते चाहि ना आमि सुंदर भुवने/मानवेर माझे आमि बाँचिकरे, चाइ···पर विश्व

जगतेर माझ खने दाँड़ाइया/बाजाइबि सौंदर्येर बाँशि।' मकान जर्जर होने से क्या? मकान मालिक जवान है। वह इस सुंदर संसार को और सुंदर बनाने के लिए जिएगा। यहाँ खड़े होकर बंशी बजाएगा। हाय रोग, हाय दैया करे उसकी बलाय। नहीं, वह रोएगा-धोएगा नहीं। पड़ा रहेगा शांत, मौन। कोई शिकवा-शिकायत नहीं। अपने प्रिय कवि कबीर साहब की तरह 'बेहद के मैदान' में सोया है। कुछ 'निरंतर' हो रहा है। क्या हो रहा है? शायद सुमिरन-भजन? आश्चर्य?

इधर मैं उनके एक स्वजन से उनकी अप्रत्याशित अवस्था के विषय में जानकारी ले रहा था और उधर अपनी मौज में—जैसे मुझे सुना रहे हैं, उसी अमंद स्वर में, अर्धमुँदी आँखों में, बोलते जा रहे हैं, 'रामनाम लड्डू, गोपाल नाम घीव'''हरि का नाम मिश्री, और घोर-घोर पीव' 'झूठे सुख को सुख कहत मानत हैं मन मोद, जगत चबेना काल को'''चहककर 'अंतकाल तुम सुमिरन गति' और फिर चहककर कुछ मौज में—

'माता बिन आदर कौन करे?
बरखा बिन सागर कौन भरे?
राम बिना दुःख कौन हरे?'

तराने पर विराम लगा तो मैं सामने हाथ जोड़कर खड़ा हुआ, 'अब चलने की आज्ञा दीजिए।'

'अच्छा!'''अगली बार जल्दी आइए तो अपने साहित्यिक पुस्तकालय पर चौबीस घंटे का हरिकीर्तन कराया जाए।'

वही मुद्रा, वही अधमुँदी आँखें, वही निर्भाव भाव में चौकी पर लेटे-लेटे बोलना, जैसे किसी और से नहीं, स्वयं से बोल रहे हैं, आत्मलीन, आत्म संबोधन!

अब मैं बहुत हैरान हूँ। इस 'रामनाम लड्डू', सुमिरन भजन, हरिकीर्तन और 'राम बिना दुःख कौन हरे' वाली धार्मिक लाइन पर कभी उन्हें इस प्रार्थी भाव में देखा नहीं! फिर दुःख हरने में माता की

सनातन भूमिका का स्मरण? उनके जीवन और चिंतन शैली को देखते, ये बातें बेमेल पड़ गले से उतर नहीं रही हैं। तो क्या मान लें कि यह 'हारे को हरि नाम' वाली स्थिति है? मगर हारे कहाँ हैं? अभी तो मन जवान है, लड़ रहा है, पुस्तकालय की मीटिंग कर रहा है। यात्राएँ कर रहा है! मन के हारे हार है, मन के जीते जीत। तो, यहाँ तो जीत ही जीत है, अंत भला तो सब भला। यात्रा के इस पड़ाव की यह श्रेष्ठतम स्थिति है कि आधि-व्याधि सहित मौत को पछाड़कर आदमी अपनी मौज में दहाड़ता रहे। नहीं, यहाँ पराजय का अस्तित्व नहीं है। कहाँ किसी अपनी बीमारी या किसी डॉक्टर या स्वजन की चर्चा हो रही है? चर्चा है 'गोपाल नाम घीव' की। अर्थात् अगले पड़ाव पर चलते-चलते में घी खाकर तगड़े बन जाएँ। यही आदर्श वीरता है।

यह एक 'निराला' संदर्भ है। सत्य है कि 'रेत सा तन ढह गया है।' मगर किसका? वह जो एक कल्पित नाम रूप है, क्या उसका, जिसके लिए वह 'मैं' का प्रयोग करता है? नहीं, 'मैं अलक्षित हूँ यही कवि कह गया है।' वह अलक्षित है। यह जो दिखाई पड़ रहा है, जो अगणित बंधनों में जकड़ा है वह नहीं है। गुण और संस्कार ही नहीं, अपना यह ओढ़ा हुआ व्यक्तित्व, कल्पित संबंध और अर्जित ज्ञान भी महामारक बंधन! तो अब यह परम पुरुषार्थ देखो, यह निर्बंध असंग पुरुष इस बँधे हुए पुल से गुजर जाने के लिए उद्यत है। यही कारण है कि जीवन भर गांधी अरविंद, राधाकृष्णन और कबीर आदि से लेकर दिनकर, पंत, प्रसाद, प्रेमचंद और हजारी प्रसाद आदि को पढ़नेवाला अब स्वयं को पढ़ रहा है—

'अपना दीप अपने आप अपना जिआ अपना वेद
अपने अनुभवों की राशि विपुल पुराण।'

तो, क्या 'माता बिन आदर कौन करे?' उसी का एक महत्त्वपूर्ण पाठ है? अवश्य, बहुत ही महत्त्वपूर्ण पाठ है। जीवन-यात्रा से थका प्रत्येक यात्री विश्राम चाहता है। उसे माता की परम पावन गोद का आश्रय चाहिए।

उसके आदर में निर्द्वंद्व विश्राम है और वह निर्विघ्न आश्रय है। उसके आदर में ही विश्राम की और आश्रय की स्थिति है। इसीलिए जीवन की बीहड़ बेला में उसे स्मरण करते हैं। क्रूर कठिन संसार द्वारा झटक दिए जाने पर जब धुँधलके-धुंध में किसी अवांछित हाशिए पर पहुँच गए तो और किसे याद करें? उस आदर का स्मरण मात्र एक दु:खहर सहलाव है, सांत्वना का बल है, एक रोमांच है, अहोभाव है और हर्षित विराम है। किसी कवि की पंक्तियाँ उमड़ रही हैं—

'माँ चंदन की गंध है, माँ रेशम का तार,
बँधा हुआ जिस तार में, सारा ही घर द्वार।
यहाँ वहाँ, सारा जहाँ, नापें अपने पाँव,
माँ के आँचल सी नहीं, और कहीं भी छाँव।'

थके, यात्री को अब ठहराव चाहिए, विश्राम चाहिए, माँ के आँचल की छाँव चाहिए। माता बिन आदर कौन करे?

कुल मिलाकर यह निज घर वापस लौटने की लालसा है। पर घर की आपाधापी से, श्रम से छुट्टी मिले। दासत्व से छुट्टी मिले। 'सर्वोहि आत्मगृहे राजा।' स्वस्थ रहें तो सानंद रहें। जो देखा, जो सुना और जो सोचा-समझा और कुल मिलाकर जो जिया वह सब 'मोह मूल परमारथ नाहीं।' और 'मोह सकल ब्याधिन कर मूला।' इन्हीं सारी-सारी ब्याधियों से ग्रस्त 'दुखिया सब संसार है।' उलटवाँसी में जीती है। लोगों ने कहा, मास्टर साहब 'बीमार' हैं। बीमार अर्थात् रोगग्रस्त, अस्वस्थ। अभी कुछ माह पूर्व तक आँख, कान, दिल-दिमाग, चलना-फिरना, हँसना-बोलना, खाना-पीना और व्यावहारिक जीवन जीना दुरुस्त था तो समझ लिया तंदुरुस्त हैं। वह तन अब दुरुस्त नहीं है, उसके अंग काम नहीं करते हैं। कोई भी व्यक्ति तन नहीं है। वह उसके भीतर, उसका संचालक-नियामक बनकर बैठा है। उसी में स्थित होना, अपने स्व के साथ होना स्वस्थ होना है। जो स्वस्थ होगा वही शांत होगा, 'निर्मान मोहा' होगा, निर्द्वंद्व-निश्चेष्ट होगा, बेपहचान होगा और वही बोल सकेगा, 'माता बिन आदर

कौन करे?', भव-रोग-रोगी माता का नहीं, रोग का, दवा का, डॉक्टर का, अस्पताल का राग अलापता विक्षिप्त रहेगा। कहाँ ऐसी मौज नसीब होगी कि रामनाम लड्डू बाँटे।

तो, मास्टर साहब स्व में स्थित हैं। बाँट रहे हैं, लो दुनिया के लोगों, लड्डू लो, घी-मिश्री लो और फिर परमलाभ के लिए राम का नाम लो। राम बिना दु:ख कौन हरे? और मेरे लिए माता का प्यार अलम है। जीवन भर कबीर को पढ़नेवाला अब कबीर को जीएगा। जीवन की यही वरेण्य स्थिति है। जब चाहे चली गई तो फिर चिंता कहाँ टिकेगी और फिर तो 'मनुआ बेपरवाह!' क्या मस्ती है, ''जिसको कछू न चाहिए वह साहन का साह!'' इस शाहंशाह पर संसार की निगाह नहीं पड़ती। वह देखती है, यह शरीर है, बीमार है, अब अधिक नहीं चलेगा। मगर वह रुकता कहाँ है? यह जो है सब नई यात्रा की प्रस्थान प्रक्रिया है। यह 'वासांसिजीर्णानि' को त्यागने और 'नवानि गृह्णाति' के मध्य का सचल परिदृश्य है। परम पावन है। 'मृत्यु रे, तुहु मम श्याम समान!' रवि बाबू का श्याम ही मास्टर साहब की माता है। तुम्हीं हो माता तुम्हीं पिता हो, अब तुम्हारा प्यार ही वांछित है। संसार पीछे छूट गया। अब कैसा बंधन?

स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में लोग एक गीत गाया करते थे—'हम दीवानों की क्या हस्ती, हैं आज यहाँ कल वहाँ रहे, मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहाँ चले।' और अब लगता है, उसी गीत की अंतिम पंक्तियों को ये जी रहे हैं—

अब अपना और पराया क्या?
आबाद रहें जीने वाले।
हम स्वयं बँधे थे और स्वयं ही,
सारा बंधन तोड़ चले।

कहाँ चले? माता का प्यार पाने के लिए उनकी गोद में? मगर वह तो बहुत-बहुत पीछे छूट गई। जन्मदात्री माँ की गोद अब असंभव। संभव है उनकी भारतमाता की गोद, प्रकृति माता की गोद। अरे, हम

भारतवासी कितने सौभाग्यशाली हैं और हमारी संस्कृति कितनी समृद्ध है कि आदर, प्यार और दुलार सहित जीवनदात्री हमारी माताओं की विस्तृत सूची है। गंगा, गीता, गायत्री और धरती सहित अनेक देवी-देवताओं की अधिक पवित्र संज्ञाएँ 'माता' शब्द से जुड़ती हैं। जन्मदात्री भौतिक माता से कुछ अधिक ही भावात्मक संबंधोंवाली माताओं के स्मरण में रोमांच देखते हैं। भौतिक जीवन की माताएँ कुमाता भी हो जाती हैं। (इस बीसवीं, इक्कीसवीं शताब्दी का आधुनिक दौर इस संदर्भ में बहुत कुख्यात हुआ) परंतु भावात्मक संबंधवाली माताओं का स्नेह-कोष सुपुत्रों के लिए कभी रिक्त नहीं होता। उनका आदर, अवदान और आशीर्वाद बहुत ही शक्तिशाली होता है, साथ ही अकृत्रिम, सहज और नि:स्वार्थ! भारतमाता के प्रति भक्ति, समर्पण और सेवा-भाव की तरंगों ने एक तिरंगा इतिहास रच दिया, लिखा, सुना नहीं, वह सब आँखों देखा सच है। समस्त भूगोल, इतिहास और पुराण से जुड़ी माताएँ जन्मदात्री माँ सहित एक भारतमाता के भावों में तब समाहित हो गई थीं, वंदे मातरम्! क्या पता, मास्टर साहब उसी माता की सुधि में अलख जगा रहे हों! माता बिन आदर कौन करे?

हाँ, मैं साक्षी हूँ। मास्टर साहब के जीवन का प्रभात और पूर्वाह्न का जीवन 'विजयी विश्व तिरंगा' और 'भारतमाता जननि हमारी, उसको शीश झुकाएँगे' जैसे गीतों की गुँजार में रमा था। सबसे पहले पहल उन्हें एक प्रभातफेरी में देखा था। उनके गाँव पर एक बारात में गया था। गरमी का दिन था। वह सारा गाँव आजादी के दीवानों का गाँव है। सुबह लगभग चार बजे समवेत स्वरों की आकर्षक गीत-ध्वनि मेरी मीठी नींद से टकराने लगी। उठकर देखा, एक जुलूस है और वह गाँव की गलियों में घूमते हुए सड़क पर निकल रहा है। हाथों में चक्रांकित तिरंगा झंडा लिये दो कतारों में पंद्रह-बीस लोग हैं। लोगों ने बताया, आगे-आगे जो दो व्यक्ति हैं, कुछ बड़े-बड़े झंडे लिये, एक युवा और एक प्रौढ़ व्यक्ति हैं उनको लोग संत जी कहते हैं और जो युवक है, कॉलेज में पढ़ता है, उसका नाम जगदीश है। तो, यह था प्रथम दर्शन। परिचय बाद में पुस्तकालय के माध्यम से

हुआ। मुझे स्मरण है, उस दिन प्रभातफेरी में लोग गा रहे थे 'उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है!'

वास्तव में यह 'उठ जाग' वाला तथा 'उत्तिष्ठित जाग्रत्' के प्राक् ऋषि-आह्वान को नए संदर्भों में ध्वनित करनेवाला गीत मास्टर साहब का प्रिय गीत है। अनेक बार इसे उनके मुँह से सुना है। क्या पता जीवन की चढ़ती अवधि का यह राष्ट्र जागरणवाला गीत इस जीवन की उतरी सांध्य बेला में आत्मजागरण की कोई मनोवैज्ञानिक लहर बनकर कंठ स्वर में फूट पड़ी हो! माता-बिन आदर कौन करे? जन्मदात्री माँ की ममता भारतमाता में स्थानांतरित-रूपांतरित हो गई हो। ऐसे भाव-रूपांतर स्वाभाविक हैं। उस सेनानी पीढ़ी की भारतमाता के प्रति, स्वाधीनता और नवजागरण के प्रति समर्पित तथा गहरी संशक्ति समय का एक ज्वलंत सत्य है।

आत्म जागरण बनाम राष्ट्र जागरण। गीत की प्रथम कड़ी का भाव प्रवाह दोनों ओर हैं—

उठ जाग मुसाफिर भोर भई,
अब रैन कहाँ जो सोवत है।
जो सोवत है सो खोवत है,
जो जागत है सो पावत है।

किंतु आगे की पंक्तियों की राष्ट्रीय अर्थ में नई व्याख्या की जाती थी। मास्टर साहब कहते गीत में रब का, प्रभु का ध्यान करने की बात कही गई है। हमारा 'रब' 'भारतमाता' है! हम उसी का ध्यान करते हैं। रही बात 'पाप' की तो हम वासियों ने अपनी फुटमत का, गाफिल होने तथा सोए रहने का पाप किया जिसकी करनी भुगत रहे हैं, पराधीन बने हैं। भारतमाता वंदिनी है। और अगली पंक्तियों में जगने, एकजुट होने और कुछ करने का आह्वान है और अंत में कहा गया—

'जब खेती चिड़िया चुग डारी
फिर पछताए क्या होवत है।'

तो, इस जागरूकता मंत्र 'उठो जागो' का राष्ट्र व्यापी मंत्र प्रभात बेला में स्पंदित है। मूल समस्या सो जाने की है इसलिए जगाने के बहुआयामी यत्न चल रहे हैं। कोई भारतमाता का 'भगत' भी है और 'सिंह' भी है तो वह क्या करता है 'जवानों को जगाने के लिए कौंसिल में बम फेंका' और फिर फाँसी पर चढ़ने जा रहा है तो भारतमाता से विदा माँगता है, बहुत लोकप्रिय गीत था, बिदा कर दो मुझे माता··· ! एक निराला कवि है जो इस बात पर तड़प रहा है कि 'सिंहों की माँद में आया है आज स्यार', और फिर वही 'जागो नगपति, जागो विशाल!' कोई छायावादी कवि प्रसाद रूप में नवजागरण मंत्र फूँक रहा है, 'बीती विभावरी जाग री।' शुरुआत भारतेंदु ने की, 'डूबत भारत नाथ बेगि अब जागो।' उन्होंने परमात्मा को ही पुकार दिया। पुकार सुनी गई। वह परमात्मा आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित होकर और गाँव के किसानों में नवजागरण का अदम्य ज्वार बन उमड़ रहा है, जगे हैं, जगा रहे हैं, 'उठ जाग मुसाफिर··· !' प्रभात फेरी की यह शृंखला, गीत-गुंजार से पहुँचती है, आत्म बलिदान की मंजिल तक, 'वंदिनी माँ को न भूलो, राग में अब मत्त झूलो, हों जहाँ बलि शीश अगणित, एक सिर मेरा मिला लो।'

वंदिनी भारतमाता स्वतंत्र हुई, परंतु उस त्यागी-बलिदानी और आजादी की दीवानी पीढ़ी-पुत्रों के सपने कहाँ पूर्ण हुए। अब तो भारतमाता का नाम लेना भी गुनाह जैसा! उस नाम का सारा रोमांच वोट तंत्र के बुलडोजर में चँपकर चूर-चूर हो गया। समर्पितों में से कुछ कुंठित हो मर-खप गए, कुछ पथभ्रष्ट हुए ऐसे कि देश को काँटों से बचाते-बचाते फूलों की मालाओं में डूब गए। कुरसी-कमाई, पार्टी-प्रोपर्टी और लोकतंत्र बनाम धनबल तंत्र-बाहुबल तंत्र वाले अंधे युग के भ्रष्टाचार भक्त गा-बजाकर नाच रहे हैं, 'अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल।' चोर मचावे शोर! तब मास्टर जैसा व्यक्ति अब क्या बोले? किस सोए देश को जगाए? अब मान ले, पुस्तकालय उसका भारत है। अँधेरी रात के बाद प्रकाश को आना ही है। तब? वह घर लौटे, माता बाट देख रही है। माता बिन आदर कौन करे! 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' एक शब्द जोड़कर

उसे एक उच्चासन प्रदान करे, मातृभूमि!

जन्म दिया माता सा जिसने, किया सदा लालन-पालन
जिसकी मिट्टी जल से ही है, रचा गया हम सबका तन।

पं. मन्नन द्विवेदी गजपुरी की इस कविता में मातृभूमि के अवदानों को, लता-द्रुमादि सहित रक्षाकारी उपादानों की ओर संकेत के बाद कवि एक मार्मिक बात कहता है कि माता की गोद तो केवल बचपन में मिलती है, परंतु मातृभूमि तो मृत्युपर्यंत अपना स्नेह लुटाती है और मृत्यु के बाद अशरण-शरण बन अपने में मिला लेती है! अंत में कवि कहता है—

"ऐसी मातृभूमि मेरी है, स्वर्ग से भी प्यारी।
जिसके पद कमलों पर मेरा, तन, मन, धन सब बलिहारी॥"

यह है माता, मातृभूमि, जन्मभूमि, स्वर्गलोक से भी प्यारी, 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी', एक जगा हुआ व्यक्ति इसके लिए तड़प रहा है। इस तड़पन में गीता के ऊँचे ज्ञान की गूँज है। यह भूमि, (अष्टभेदी प्रकृति में प्रमुख) ही माता है और पुरुष में परमात्मा पिता है। और न कोई माता है और न पिता। वे तो निमित्त मात्र हैं। इसी माता, भूमि, मातृभूमि और सबका भाव जिसके सपनों में डूबा मुसाफिर पूरे देश को जगाता है। माता बिन आदर कौन करे, एक धन्यता का भाव है एक भावभीनी जननी जन्म भूमि की प्रार्थना है, एक मंत्र है, सुमिरन भजन और कीर्तन है, जीवन साधना का सार है, 'बुद्धिविकुण्ठा नाथ समाप्ताममयुक्तय:, अब आश्रय नहीं तुम्हारा परमाश्रय चाहिए। संसार का आश्रय हार है और परमाश्रय जीवन की जीत है। बस, अब शरण दो माता! एक मर्मस्पर्शी पुकार है। अंतिम परीक्षा की घड़ी में वाल्मीकि की सीताजी ने भी पुकारा था—'माधवी देवी विवंर दातुमर्हति।' पृथ्वी माता मुझे अपनी गोद में स्थान दें। माता का आदर मिला। वे उत्तीर्ण हुईं।

अंत में बता दूँ, उस दिन मास्टर साहब को एक विजेता की स्थिति में देखा। देह-गेह अलीक माया की तरंगें नहीं थीं। स्वयं दुःखी

संस्कृति और सौंदर्य

नामवर सिंह

'अशोक के फूल' केवल एक फूल की कहानी नहीं, भारतीय संस् कृति का एक अध् याय है; और इस अध् याय का अनंगलेख पढ़नेवाले हिंदी में पहले व् यक्ति हैं हजारीप्रसाद द्विवेदी। पहली बार उन् हें ही यह अनुभव हुआ कि 'एक-एक फूल, एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स् मृतियों का भार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स् मृति-परंपरा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चंपे की भी है। सब क् या हमें मालूम है? जितना मालूम है उसी का अर्थ क् या स् पष् ट हो सका है?' अब तो खैर हिंदी में फूलों पर 'ललित' लेख लिखनेवाले कई लेखक निकल आए हैं, लेकिन कहने की आवश् यकता नहीं कि 'अशोक के फूल' आज भी अपनी जगह है। का लिदास के प्रेमी पंडितों को पहली बार इस रहस् योद्घाटन से अवश् य ही धक् का लगा होगा कि जिस कवि को वे अब तक अपनी आर्य संस् कृति का महान गायक समझते आ रहे थे वह गंधर्व, यक्ष, किन् नर आदि आर्येतर जातियों के विश् वासों और सौंदर्य-कल् पनाओं का सबसे अधिक ऋणी है। वैसे तो भारत को 'महामानव सागर' कहनेवाले रवींद्रनाथ ठाकुर एक अरसे से यह बतलाते आ रहे थे कि जिसे हम हिंदू रीतिनीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का मिश्रण है, किंतु यही संदेश 'अशोक के फूल' के माध् यम से आया तो उसकी चोट कुछ और ही थी। क् या इसलिए कि यह मनोजन् मा कन् दर्प के धनुष से छूटा है? फूल की मार कितनी गहरी हो सकती है इसका एहसास कराने के लिए 'अशोक के फूल' के ये दो वाक् य काफी हैं: 'देश और जाति की विशुद्ध संस् कृति केवल बात की बात है। सबकुछ में मिलावट है, सबकुछ अविशुद्ध है।' और सच कहा जाए तो आर्य संस् कृति की शुद्धता के अहंकार पर चोट करने के लिए ही 'अशोक के फूल' लिखा गया है, प्रकृति-वर्णन करने के लिए नहीं। यह निबंध द्विवेदीजी के शुद्ध पुष्प-प्रेम का प्रमाण नहीं, बल्कि संस् कृति-दृष्टि का अनूठा दस् तावेज है।

अब तो भारत की 'सामाजिक संस् कृति' की दिन-रात माला जपनेवाले बहुतेरे हो गए हैं। दिनकरजी ने तो 'संस् कृति के चार अध् याय' नाम से एक विशाल ग्रंथ ही लिख डाला; किंतु जैसा कि अज्ञेय ने लिखा है: 'काव् य की पड़ताल में तो दिनकर 'शुद्ध' काव् य की खोज में लगे थे, लेकिन संस् कृति की खोज में उनका आग्रह 'मिश्र संस् कृति' पर ही खोज में लगे थे, लेकिन संस् कृति की मिश्रता को ही उजागर करने का प्रयत् न है, उसकी संग्राहकता को नहीं। संस् कृति का चिंतन करनेवाले किसी भी विद्वान के सामने यह बात स् पष् ट होनी चाहिए कि संस् कृतियाँ प्रभाव ग्रहण करती हैं, अपने अनुभव को समृद्धतर बनाती हैं, लेकिन यह प्रक्रिया मिश्रण की नहीं है। संस् कार नाम ही इस बात को स् पष् ट कर देता है। यह मानना कठिन है कि संस् कृति की यह परिभाषा दिनकर की जानी हुई नहीं थी; उनका जीवन भी कहीं उस मिश्रता को स् वीकार करता नहीं जान पड़ता था, जिसकी वकालत उन् होंने की। तब क् या यह संदेह संगत नहीं कि उनकी अवधारणा एक वकालत ही थी, दृष्टि का उन् मेष नहीं? और अगर वकालत ही थी तो उनका मुवक्किल क् या समकालीन राजनीति का एक पक्ष ही नहीं था, जिसके सांस् कृतिक कर्णधार स् वयं भी मिश्रता का सिद्धांत नहीं मानते थे, लेकिन अपनी स्थिति दृढ़तर बनाने के लिए उसे अपना रहे थे?' (स् मृतिलेखा, पृ.118)

इस 'मिश्र संस् कृति' की राजनीति से द्विवेदीजी कितने अलग थे, इसका प्रमाण यह है कि स् वाधीनता प्राप्ति के बाद जब से राष् ट्रीय स् तर पर अनुमोदित और प्रोत् साहित नीति के रूप में 'सामाजिक संस् कृति' का बोलबाला हुआ, द्विवेदीजी ने इस विषय पर लिखना लगभग बंद कर दिया। स् पष् ट है कि वे 'मिश्र संस् कृति' के वकील न थे और न एक वकील की तरह अपने पक्ष के लिए इतिहास से तथ् य बटोरने ही गए थे। उन् होंने तो उस अनुभूति को वाणी दी जो अपने अतीत के साहित् य को पढ़ते और कलाकृतियों को देखते समय अंतर्तम में उठी थी; और इस बात से तो संभवत: अज्ञेय भी इनकार न करेंगे कि द्विवेदीजी के लिए वह एक अमूर्त बौद्धिक 'अवधारणा' नहीं

थी, बल्कि 'दृष्टि का उन्   मेष' था। इसीलिए जब द्विवेदीजी कहते हैं कि 'सबकुछ अविशुद्ध है', तो तुरंत बाद यह भी जोड़ते हैं कि 'शुद्ध है केवल मनुष्   य की जिजीविषा।' वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सबकुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है!'

इस संदर्भ में उल्   लेखनीय है कि अज्ञेय जहाँ संस्   कृति की केवल 'संग्राहकता' की हिमायत करते हैं, वहाँ द्विवेदीजी 'त्   याग' का जिक्र करना नहीं भूलते। 'अशोक के फूल' में ही, में ही, उसी अनुच्   छेद के अंतर्गत एक द्रष्   टा की तरह 'मानवजाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ' देखते हुए वे कहते हैं: 'मनुष्   य की जीवनी-शक्   ि बड़ी निर्मम है, वह सभ्   यता और संस्   कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्   वासों, उत्   सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवनधारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्   य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और
त्   याग का रूप है।'

इसलिए द्विवेदीजी के सामने योजनाबद्ध रूप से एक 'मिश्र संस्   कृति' तैयार करने की समस्   या नहीं है, समस्   या यह है कि 'आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्   कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्   यनिष्   ठा के नाम पर जो जड़िमा है' उसे किस प्रकार ध्   वस्   त किया जाय[९]?

इस दृष्टि से यदि दिनकर का 'मिश्र संस्   कृति' की एक राजनीति है जो अज्ञेय की संस्   कार-धर्मी संग्राहक संस्   कृति भी किसी और राजनीति के अनुषंग से बच नहीं जाती। जब वे कहते हैं कि संस्   कृतियाँ प्रभाव ग्रहण करती हैं, अपने अनुभव को समृद्धतर बनाती है तो उसमें एक 'मूल संस्   कृति' का अस्तित्   व पहले ही से स्   वीकार कर लिया गया है जो किसी प्रभाव से पहले 'विशुद्ध' है। आकस्मिक नहीं है कि अज्ञेय द्वारा स्   थापित वत्   सल निधि की 'हीरानंद शास्   त्री स्   मारक व्   याख्यानमाला' के प्रथम आयोजन में प्रकाशित 'भारतीय परंपरा के मूल स्   वर' में डॉ.गोविंदचंद्र पांडे भी लगभग ऐसे ही शब्   दों में 'सामासिक संस्   कृति' का विरोध करते हैं। डॉ.पांडे यह स्   वीकार करते हैं कि 'विज्ञान, प्रविधि और भौतिक उपादानों के स्   तर पर नाना समाजों में आदान -प्रदान अनायास और चिरपरिचित है; (और) इन साधनों का उपयोग समाज को प्रभावित करता है।' किंतु इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि 'अतर्क्   य भावों, अनुभूतियों और आध्   यात्मिक उपलब्धियों के स्   तर पर संस्   कृतियों का वास्   तविक मिलन अत्   यंत कठिन होता है।' (पृ.18-19) कुल मिलाकर 'इस   विमर्श का निष्   कर्ष यह है कि भारतीय संस्   कृति की तथाकथित सामासिकता वास्   तव में सभ्   यता के क्षेत्र में ही लागू होती है और इस क्षेत्र में वह भारत की कोई विशेषता नहीं है।' (पृ.20)

सवाल यह है कि 'सभ्   यता' और 'संस्   कृति' की जिन दो यूरोपीय अवधारणाओं को डॉ.पांडे ने भारत की संस्   कृति के विवेचन के लिए अपनाया है, उनका संबंध 'सभ्   यता' से है या संस्   कृति से? आदान-प्रदान यदि सभ्   यता के ही क्षेत्र में भी आदान-प्रदान होता है। फिर भी जिस तरह 'राष्   ट्रीय स्   तर पर अनुमोदित और प्रोत्   साहित सामासिक संस्   कृति' का विरोध डॉ.पांडे ने किया है उसे किसी अन्   य पक्ष की राजनीति की वकालत न मानना अज्ञेय के लिए भी कठिन होगा। तर्क वही है जिसका इस्   तेमाल उन्   होंने दिनकर के संदर्भ में किया है। यदि दिनकर की 'सामाजिक संस्   कृति' का संबंध राजनीति के एक पक्ष से है तो स्   वयं अज्ञेय और गोविंदचंद्र पांडे की 'शुद्ध संस्   कृति' का संबंध भी राजनीति के दूसरे पक्ष से जोड़ा जा सकता है। शुद्ध होने से ही वह राजनीति से मुक्   त नहीं हो जाती।

द्विवेदीजी की दृष्टि में संस्   कृति का यह आग्रह भी एक प्रकार का 'मोह' है जो बाधा उपस्थित करता है। संस्   कृति में निहित जिस 'संस्   कार' की ओर अज्ञेय ने संकेत किया है, उसकी अर्थवत्ता से द्विवेदीजी अपरिचित हैं, यह तो

स्   वयं अज्ञेय भी न स्   वीकार करेंगे; फिर भी उन्   हें यह देखकर आश्   चर्य न होना चाहिए कि उन्   होंने अक्   सर इस 'संस्   कार' को भी बाधा माना है। लखनऊ विश्   वविद्यालय के 'साहित्   य का मर्म' (1948) शीर्षक व्   याख्   यानों में उनका जोर इसी बात पर है कि विवेक के परिष्   करण के लिए किए गए संस्   कार भी काल पाकर किसी नए सृजन के ग्रहण के लिए बाधा बन जाते हैं। कहते हैं: 'संस्   कार' शब्   द का प्रयोग करते समय मुझे थोड़ा संकोच ही हो रहा है। संस्   कार शब्   द अच्   छे अर्थ में ही प्रयुक्   त होता है, परंतु मनुष्   य स्   वभाव से ही प्राचीन के प्रति श्रद्धापरायण होता है और प्राचीनकाल से संबंद्ध होने के कारण कुछ ऐसी धारणाओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगता है जो जब शुरू हुई होंगी तो निश्   चय ही उपयोगी रही होगी परंतु बाद में उनकी उपयोगिता घिस गई और वे रुढ़ि   मात्र रह गईं। ऐसे संस्   कार सब समय वृहत्तर मानव पट भूमिका पर खरे नहीं उतरते।' इन कालगत संस्   कारों की चर्चा करने के बाद वे उन देशगत और जातिगत संस्   कारों की ओर भी संकेत करते हैं जो 'अन्   य देश और अन्   य जाति के विश्   वासों पर आधारित साहित्   य को समझने में बाधक होते हैं।' प्रसंग यद्यपि साहित्   य का है फिर भी संस्   कार की यह भूमिका संस्   कृति के क्षेत्र में भी स्   वीकार की जा सकती है। इस प्रकार स्   पष्   ट है कि संस्   कार के उल्   लेख मात्र से संस्   कृति के क्षेत्र में दृष्टिगत होनेवाली संकीर्णता का परिहार नहीं हो जाता। 'संस्   कार' की प्रक्रिया अंततः संस्   कृति के क्षेत्र में उस शुद्धीकरण की ओर ले जाती है जिसकी परिणति वर्जनशीलता में होती है - यह वही 'वर्जनशीलता' है जिस पर भारतीय संस्   कृति के बहुत से हिमायतियों को अभिमान है। 'हमारे यहाँ' वाला ब्रम्हास्   त्र इस वर्जनशील अहंकार की उपज है, जिसका मुकाबला द्विवेदीजी को अक्   सर करना पड़ता था।

बहुत क्   लेश होने पर ही 'हिंदी साहित्   य की भूमिका' के उपसंहार में उन्   होंने लिखा : 'आए दिन श्रद्धापरायण आलोचक यूरोपियन मतवादों को धकिया देने के लिए भारतीय आचार्य-विशेष का मत उद्धृत करते हैं और आत्   मगौरव के उल्   लास से घोषित कर देते हैं कि 'हमारे यहाँ' यह बात इस रूप में मानी या कही गई है। मानो भारतवर्ष का मत केवल वही एक आचार्य उपस्   थापित कर सकता है, मानो भारतवर्ष के हजारों वर्ष के सुदीर्घ इतिहास में नाम लेने योग्   य एक ही कोई आचार्य हुआ है, और दूसरे या तो हैं ही नहीं, या हैं भी तो एक ही बात मान बैठे हैं। यह रास्   ता गलत है। किसी भी मत के विषय में भारतीय मनीषा ने गड्डलिका-प्रवाह की नीति का अनुसरण नहीं किया है। प्रत्   येक बात में ऐसे बहुत से मत पाए जाते हैं जो परस्   पर एक दूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं।' (पृ. 129)

पंडितों की समझ का यह इकहरापन द्विवेदीजी की दृष्टि में एक बड़ी बाधा है। इस संकीर्ण इकहरेपन के खिलाफ संघर्ष करते हुए उन्   होंने भारतीय संस्   कृति की विविधता, जटिलता, परस्   पर विरोधी जीवंतता और समृद्धि का पुनः सृजन किया। भारतीय संस्   कृति के अंतर्गत आर्येतर जातियों के अवदान की उल्   लसित चर्चा का कारण यही है। यदि इस प्रयास में कहीं आर्य-श्रेष्   ठता के अहंकार को ठेस लगती है तो द्विवेदीजी इस बात से चिंतित नहीं दिखते। वस्   तुतः यह दूसरी परंपरा की खोज का प्रयास है जिसका प्रयोजन मुख्   यतः पंडितों की इकहरी परंपरा की संकीर्णता का निदर्शन है।

प्रसंगवश द्विवेदीजी के इस प्रयास की एक परंपरा हिंदी में पहले से दिखाई पड़ती है। एक दशक पहले जयशंकर प्रसाद को भी ऐसे ही भारत-व्   याकुल लोगों से पाला पड़ा था, जिनके जवाब में कवि को 'काव्   य और कला' तथा 'रहस्   यवाद' आदि निबंध लिखने पड़े थे। नए काव्   य-प्रयोगों की 'प्रतिक्रिया के रूप में' उन्   हें भी 'भारतीयता की दुहाई' सुनाई पड़ी थी। 'काव्   य और कला' निबंध का आरंभ ही इस प्रकार होता है कि 'भारतीय वाङ्मय की' 'सुरुचि-संबंधी विचित्रताओं को बिना देखे ही अत्   यंत शीघ्रता में आजकल अमुक वस्   तु अभारतीय है अथवा भारतीय संस्   कृति की सुरुचि के विरुद्ध है, कह देने की परिपाटी चल पड़ी है।' प्रसाद ने भी यह लक्षित किया था कि 'ये सब भावनाएँ साधारणतः हमारे विचारों की संकीर्णता से और प्रधानतः अपनी स्   वरूप-विस्   मृति से उत्   पन्   न हैं।' यह संकीर्णता और स्   वरूप-विस्   मृति अपनी परंपरा के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन से ही दूर हो सकती है। किंतु प्रसाद ने अनुभव किया कि 'इसका ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन होने की संभावना जैसी पाश्   चात्   य साहित्   य में है, वैसी भारतीय साहित्   य में नहीं। उनके पास अरस्   तू से लेकर वर्तमान काल

तक ही सौंदर्यानुभूति-सबंधिनी विचारधारा का क्रमविकास और प्रतीकों के साथ-साथ उनका इतिहास तो है ही, सबसे अच्‍छा साधन उनकी अविछिन्‍न सांस्‍कृतिक एकता भी है। हमारी भाषा के साहित्‍य में वैसा सामंजस्‍य नहीं है। बीच-बीच में इतने अभाव या अंधकार-काल हैं कि उनमें कितनी ही विरुद्ध संस्‍कृतियाँ भारतीय रंग स्‍थल पर अवतीर्ण और लोप होती दिखाई देती हैं; जिन्‍होंने हमारी सौंदर्यानुभूति के प्रतीकों को अनेक प्रकर से विकृत करने का ही उद्योग किया है।'

अपनी परंपरा में इस अभाव और अंधकार-काल के बावजूद प्रसाद ने 'रहस्‍यवाद' शीर्षक निबंध में सौंदर्यानुभूति की परंपरा को पुननिर्मित करने का प्रयास किया। इस परंपरा का आरंभ भी ऋग्‍वेद से ही होता है, किंतु यह आर्यजन की वह परंपरा है जिसके प्रतिनिधि इंद्र हैं और जिसमें 'काम' की पूर्ण स्‍वीकृति है। वह वरुण के अधिनायकत्‍व में विकसित होनेवाली असुर परंपरा से सर्वथा भिन्‍न है जो विधि-विधान और विवेक को विशेष महत्‍व देती थी। प्रसाद ने इन दोनों परस्‍पर-विरोधी परंपराओं के विकास की मनोरंजक रूपरेखा प्रस्‍तुत की है और कहने की आवश्‍यकता नहीं कि उनकी दृष्टि में जीवन में 'काम' को पूर्णत: स्‍वीकार करके चलनेवाली आनंदवादी परंपरा ही मुख्‍य है अथच काम्‍य भी।

किसी प्रकार की प्रतिक्रिया प्राप्‍त न होने के कारण यह कहना कठिन है कि द्विवेदीजी प्रसाद द्वारा निरूपित आनंदवादी परंपरा से किस हद तक परिचित थे, किंतु तत्त्वत: यह वही परंपरा है जिसका श्रेय वे गंधर्व, नाग, द्रविड़ आदि आर्येतर जातियों को देते हैं। 'विचार और वितर्क' (1945) में संकलित अपने एक आरंभिक निबंध 'हमारी संस्‍कृति और साहित्‍य का संबंध' में लिखा है कि 'सबसे अधिक आर्येतर-संश्रव साहित्‍य और ललित कलाओं के क्षेत्र में हुआ है।अजंता के चित्रित, साँची, भरहूत आदि में उत्‍कीर्ण चित्र और मूर्तियाँ आर्येतर सभ्‍यता की समृद्धि के परिचायक हैं। महाभारत और कालिदास के काव्‍यों की तुलना करने में जान पड़ेगा कि दोनों दो चीज़ें हैं। एक में तेज है, दृप्‍तता है और अभिव्‍यक्ति का वेग है, तो दूसरे में लालित्‍य है, माधुर्य है और व्‍यंजना की छटा है। महाभारत में आर्य उपादान अधिक है, कालिदास के काव्‍यों में आर्येतर। जिन लोगों ने भारतीय शिल्‍पशास्‍त्र का अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि भारतीय शिल्‍प में कितने आर्येतर उपादान हैं और काव्‍यों तथा नाटकों में उनका कैसा अद्भुत प्रभाव पड़ा है। पता चला है कि साँची, भरहूत आदि के चित्रकार यक्षों और नागों की पूजा करनेवाली एक सौंदर्य-प्रिय जाति थी, जो संभवत: उत्तर भारत से लेकर असम तक फैली हुई थी। बहुत सी ऐसी बातें कालिदास आदि कवियों ने इन सौंदर्य-प्रेमी जातियों से ग्रहण कीं, जिनका पता आर्यों को न था। कामदेव और अप्‍सराएँ उनकी देव-देवियाँ हैं, सुंदरियों के पदाघात से अशोक का पुष्पित होना उनके घर की चीज है, अलकापुरी उनका स्‍वर्ग है - इस प्रकार की अन्‍य अनेक बातें उनसे और उन्‍हीं की तरह अन्‍यान्‍य आर्येतर जातियों से महाकवि ने ली हैं।' इसी क्रम में आगे भरतमुनि के नाट्यशास्‍त्र के बारे में भी, उसके आर्यों की विद्या न माननेवाले मत का जिक्र करते हुए कहते हैं: 'शुरू में एक कथा में बताया गया है कि ब्रम्‍हा ने नाट्यवेद नामक पाँचवे वेद की सृष्टि की थी। अगर आर्यों के वेदों से इसका कुछ भी संबंध होता तो पंडितों का अनुमान है, इस कथा की जरूरत न हुई होती। वास्‍तव में भारतीय नाटक पहले केवल अभि‍नय के रूप में ही दिखाए जाते थे। उनमें भाषा का प्रयोग करना आर्य संशोधन का परिवर्धन है।' (प्रथम संस्‍करण, पृ.186-87) आर्येतर अवदान की इस सूची में यदि 'भक्‍ती द्राविड़ ऊपजी' और आभीरों के आराध्‍यवदेव बालकृष्‍ण तथा देवी राधा को जोड़ लें तो हमारी परंपरा में सुंदर माना जानेवाला ऐसा कुछ भी नहीं बचता जो आर्येतर न हो! एक भक्तिकाव्‍य को छोड़कर प्रसाद और हजारीप्रसाद द्विवेदी में इस बात को लेकर कोई मतभेद नहीं है कि क्‍या-क्‍या सुंदर है? अंतर केवल यह है कि प्रसाद जिसे आर्यों के एक समुदाय की परंपरा कहते हैं, हजारीप्रसाद द्विवेदी उसे ही विभिन्‍न आर्येतर जातियों का अवदान मानते हैं। फिर भी एक बात में उभयत्र समानता है कि हमारी परंपरा में जो भी सुंदर है वह आर्य नाम से प्रचारित मिथक से भिन्‍न है। इस मिथकीय आर्यसे इतनी चिढ़ इसलिए है कि इसके ध्‍वजाधारियों को 'सुंदर' से परहेज है। जैसा कि प्रसाद ने 'रहस्‍यवाद' शीर्षक निबंध में स्‍पष्‍ट लिखा है: 'आनंद पथ को उनके कल्पित भारतीयोचित विवेक में सम्मिलित कर लेने से आदर्शवाद का ढाँचा ढीला पड़ जाता है। इसलिए वे इस बात को स्‍वीकार करने में डरते हैं कि जीवन में यथार्थ वस्‍तु आनंद है, ज्ञान से वा अज्ञान से मनुष्‍य उसी की खोज में लगा है। आदर्शवाद ने विवेक के नाम पर आनंद और उसके पथ के लिए जो जनरव फैलाया है, वही उसे अपनी वस्‍तु कहकर स्‍वीकार करने में बाधक है।' इसलिए नैतिकतावादियों को प्रत्‍युत्तर देने के लिए प्रसाद

ने यदि 'सुंदर' की परंपरा को अपनी ही परंपरा के अंदर आर्येतर तत्त्वों के अभिन् न मिश्रण के रूप में विवेचित किया। एक की परंपरा और दूसरे की प्रति-परंपरा दो दिशाओं से चलकर एक ही बिंदु पर मिलती है - थोथे नैतिकतावाद के विरुद्ध 'सुंदर' की प्रतिष् ठा! 'सुंदर' को ही लेकर यह सारा विवाद इसलिए है कि जैसा कि प्रसाद ने कहा है : 'संस् कृति सौंदर्यबोध के विकसित होने की मौलिक चेष् टा है।'

यह आकस्मिक नहीं है कि भारतीय संस् कृति के नाम पर नैतिकता की ध् वजा फहरानेवाले प्रकृति के सौंदर्य को तो किसी प्रकार सह लेते हैं, पर नारी-सौंदर्य के सामने आँखे चुराने लगते हैं। उदाहरण के लिए शुक्लजी के लोकमंगल में प्रकृति के सौंदर्य के लिए तो पूरी जगह है, लेकिन छायावादियों की कौन कहे स् वयं विद्यापति के लिए तो पूरी जगह है, लेकिन छायावादियों की कौन कहे स् वयं विद्यापति और सूर जैसे भक् त कवियों का नारी-सौंदर्य भी ग्राह्य नहीं है। आनंद और माधुर्य को लोकमंगल की सिद्धावस् था का गौरवपूर्ण पद देकर उन् होंने साधनावस् था का मार्ग अपनी ओर से सर्वथा निष् कटंक कर लिया, क् योंकि साधना के मार्ग में माधुर्य से बाधा पहूँचने की आशंका है।

संभवत: ऐसे ही पूर्वग्रह का प्रत् याख् यान करने के लिए द्विवेदीजी ने अपनी साहित् य-साधना के आरंभिक सोपान पर ही 'हिंदी साहित् य की भूमिका' के साथ ही 'प्राचीन भारत का कला-विलास' (1940) नामक पुस् तक लिखी जो आगे चलकर परिवर्धित रूप में 'प्राचीन भारत के कलात् मक विनोद' नाम से छपी। प्राचीन भारत में प्रचलित कलाओं के लगभग सौ संदर्भों का तथ् यात् मक विवरण उपस्थित करने से पहले 'कलात् मक विनोद' में द्विवेदीजी ने आरंभ में यह स् पष् ट कर देना आवश् यक समझा कि 'विलासिता और कलात् मक विलासिता एक ही वस् तु नहीं है। थोथी विलासिता में केवल भूख रहती है - नंगी बुभुक्षा पर कलात् मक विलासितासंयम चाहती है, शालीनता चाहती है, विवेक चाहती है। सो,कलात् मक विलास किसी जाति के भाग् य में सदा-सर्वदा नहीं जुटता। उसके लिए ऐश् वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त् याग और भोग का सामर्थ् य चाहिए और सबसे बढ़कर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौंदर्य और सुकुमारता की रक्षा कर सके। परंतु इनता ही काफी नहीं है। उस जाति में जीवन के प्रति ऐसी एक दृष्टि सुप्रतिष्ठित होनी चाहिए जिससे वह पशुसुलभ इंद्रिय-वृत्ति को और बाह्य पदार्थों को ही समस् त सुखों का कारण न समझने में प्रवीण हो चुकी हो, उस जाति की ऐतिहासिक और सांस् कृतिक परंपरा बड़ी और उदार होनी चाहिए और उसमें एक ऐसा कौलीन् य गर्व होना चाहिए जो आत् म-मर्यादा को समस् त दुनिया की सुख-सुविधाओं से श्रेष् ठ समझता हो, और जीवन के किसी भी क्षेत्र में असुंदर को बर्दाश् त न कर सकता हो। जो जाति सुंदर की रक्षा और सम् मान करता नहीं जानती वह विलासी भले ही हो ले, पर कलात् मक विलास उसके भाग् य में नहीं बदा होता।'

संक्षेप में यह उस सौंदर्यबोध की 'संस् कृति' है, जिसका अत् यंत संवेदनशील औश्र सूक्ष् मविवरण 'कलात् मक विनोद' के बाद के पृष् ठों में मिलता है, या फिर 'बाणभट्ट की आत् मकथा', 'चारु चंद्रलेख', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा' जैसी सर्जनात् मक कृतियों के उन प्रसंगों में जहाँ नारी-सौंदर्य अपने पूरे वैभव के साथ प्रकट होता है तथा नृत् य-कला के प्रदर्शन के अवसर अक् सर उपस्थित होते हैं। कहने की आवश् यकता नहीं कि द्विवेदीजी के इस सौंदर्यबोध में सर्वथा शास् त्रीय प्रत् यभिज्ञान ही नहीं, बल्कि उसमें एक सजग ऐंद्रिय संवेदन की प्रत् यग्रता भी है। रूप, शोभा, सुषमा, सौभाग् य, चारुता, लालित् य, लावण् य आदि का ऐसा सूक्ष् म परिज्ञान और संवेदन हिंदी में दुर्लभ ही है।

इस सौंदर्यबोध को सामंती संस् कृति का पर्याय समझ लिए जाने का भ्रम न हो इसलिए 'मेघदूत-एक पुरानी कहानी', (1957) से पूर्व मेघ के 'पुष् पलावी मुखानम्' वाले 26वें छंद पर द्विवेदीजी की व् याख् या का एक अंश प्रस् तुत है : 'जो संपत्ति परिश्रम से नहीं अर्जित की जाती, और जिसके संरक्षण के लिए मनुष् य का रक् त पसीने में नहीं बदलता, वह केवल कुत्सित रुचि को प्रश्रय देती है। सात्विक सौंदर्य वहाँ है, जहाँ चोटी का पसीना एड़ी तक आता है और नित् य समस् त विकारों को धोता रहता है। पसीना बड़ा पावक तत् व है मित्र, जहाँ इसकी

धारा रुद्ध हो जाती है वहाँ कलुष और विकार जमकर खड़े हो जाते हैं। विदिशा के प्रच् छन् न विलासियों में यह पावनकारी तत् व नहीं है। उनके चेहरों पर सात्विक तेज और उल् लसित करनेवाली दीप्ति नहीं रह गई है। इसलिए मैं सलाह देता हूँ कि विश्राम करके आगे बढ़ना; क् योंकि प्रात:काल निचली पहाड़ी के इर्दगिर्द तुमको मनुष् य की सात्विक शोभा दिखाई देगी। वहाँ सवेरे सूर्योदय के साथ ही साथ तुम श्रम-जल-स् नात नारियों की दिव् य शोभा देख सकोगे। नागरिक लोगों के आनंद और विलास के लिए कृषकों ने फूलों के अनेक बगीचे लगा रखे हैं। प्रात:काल कृषक-वधूएँ फूल चुनने के लिए इन पुष् पोद्यानों में आ जाती हैं, उस प्रदेश में इन् हें 'पुष् पलावी' कहते हैं। 'पुष् पलावी' अर्थात् फूल चुननेवाली। ये पुष् पलावियाँ घर का कामकाज समाप् त करके उद्यानों में आ जाती हैं और मध् यान् ह तक फूल चुनती रहती हैं। सूर्य के ताप से इनका मुखमंडल ग् लान हो उठता है, गंडस् थल से पसीने की धारा बह चलती है और इस स् वेदधारा के निरंतर संस् पर्श से उनके कानों के आभरण रूप में विराजमान नीलकमल मलिन हो उठते हैं। दिन-भर की तपस् या के बाद वे इतना कमा लेती हैं कि किसी प्रकार उनकी जीवन-यात्रा चल सके। परंतु तुमको यहीं सात्विक सौंदर्य के दर्शन होंगे। उनके दीप् त मुखमंडल पर शालीनता का तेज देखोगे; उनकी भ्रू-भंग- विलास से अपरिचित आँखों में सच् ची लज् जा के भार का दर्शन कर पाओगे और उनके उत् फुल् ल अधरों पर स्थिर भाव से विराजमान पवित्र स्मित-रेखा को देखकर तुम समझ सकोगे कि 'शुचि-स्मिता' किसे कहते हैं। इस पवित्र सौंदर्य को देखकर तुम निचली पहाड़ी की उद्दाम और उन् मत्त विलास-लीला को भूल जाओगे। वहाँत तुम संचय का विकार देखोगे और यहाँ आत् मदान का सहज रूप।' (प्रथम संस् करण, पृ. 45-46)

पुष् पलावियों का यह श्रम-जल-स् नात सौंदर्य कालिदास का नहीं, द्विवेदीजी के 'कालिदास' का सौंदर्य है - क् लासिकी परंपरा से फूटती हुई आधुनिकता! संस् क ृति को भी संस् कार देनेवाली यह एक और परंपरा है जो अनजाने ही निराला की 'श् याम तन भर बँधा यौवन' वाली 'वह तोड़ती पत्थर' से जुड़ जाती है।

इसलिए जो लोग द्विवेदीजी के सौंदर्य-संस् कार को रवींद्रनाथ के शांतिनिकेतन की देन बतलाते हैं वे सिर्फ आधी बात कहते हैं। शांतिनिकेतन में चारों ओर संगीत और कला का जो वातावरण था उसने निश् चय ही द्विवेदीजी के सुप् त सौंदर्यबोध को जागृत किया था। स् वयं द्विवेदीजी ने भी शांतिनिकेतन के संस् मरणों में आश्रम के उस वातावरण की चर्चा की है जिसमें संगीत जीवन का अविच् छेद्य अंग बन गया था और छोटे-से-छोटे बच् चों में भी सौंदर्य-निर्माण की सहज प्रेरणा काम कर रही थी। फिर भी उनके अपने सौंदर्यप्रेम का एक बहुत बड़ा स् त्रोत अपना लोक-संस् कार था। यही वजह है कि जीवन के संदर्भ में जब भी सौंदर्य-सृष्टि की बात उठती थी तो वे उसे सामान् य जन-जीवन में उतारने की कल् पना करते थे। इस दृष्टि से 'विचार-प्रवाह' (1959) में संकलित 'जनता का अंत: स् पंदन शीर्षक लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

निबंध इस चिंता से आरंभ होता है : 'कुछ ऐसा प्रयत् न होना चाहिए कि इस वंचित जनता के भीतर रसग्राहिका संवेदना उत् पन् न हो, वे भी 'सुंदर' का सम् मान करना सीखें, 'सुंदर' ढंग से जीवन बिताना सीखें, 'सुंदर' को पहचानना सीखें।' एक सत् ख् यातिवादी की तरह द्विवेदीजी कहते हैं कि जनता के अंत:करण में अगर सौंदर्य के प्रति सम् मान का भाव नहीं है, तो जनता कभी भी सौंदर्य-प्रेमी नहीं बनाई जा सकती। किंतु उनका विश् वास है कि जनता के भीतर वह वस् तु स् तब् ध पड़ी हुई है। उपयुक् त उद्दीपक के अभाव में वह स् पंदित नहीं हो रही है। इस उद्दीपक वस् तु को समाज में प्रतिष्ठित करना वांछनीय है। जनता की प्राथमिक आवश् यकताओं की पूर्ति से वे बेखबर नहीं हैं। वे अनुभव करते हैं कि जिस जनता को पेट-भर अन् न नहीं मिलता, वह सौंदर्य का सम् मान नहीं कर सकती। नींव के बिना इमारत नहीं उठ सकती। 'भूखे भजन न होहिं गोपाला।' किंतु इसके साथ ही यह भी सच है कि 'जो जाति 'सुंदर' का सम् मान नहीं कर सकती वह यह भी नहीं जानती कि बड़े उद्देश् य के लिए प्राण देना क् या चीज है। वह छोटी-छोटी बातों के लिए झगड़ती है, मरती है और लुप् त हो जाती है।'

स् पष् टत: यह दृष्टि उस विचारधारा से नितांत भिन् न है जो जनता को तात् कालिक आर्थिक और

राजनीतिक आवश्‍यकताओं की पूर्ति के लिए संघर्ष में उतारने की विश्‍वासी है क्‍योंकि वहाँ यह समझ निहित है कि जनता के बोध का स्‍तर इतना ही नीचा है। जो जनता के 'अंत:स्‍पंदन' से अपरिचित हैं वे सारी शक्ति फौरी लड़ाइयों में ही क्षय करते हैं। कोई जाति क्रांति जैसे बड़े उद्देश्‍य के लिए जान की बाजी लगाती है तो इसलिए कि वह सिर्फ जीना नहीं चाहती, बल्कि 'सुंदर' ढंग से जीना चाहती है। कहने की आवश्‍यकता नहीं कि आज के अनेक राजनीतिक संगठन और आंदोलन सिर्फ इसलिए असफल हो रहे हैं कि उनके सामने जीवन का यह बड़ा उद्देश्‍य नहीं है और वे 'सुंदर' को एक अतिरिक्‍त या फालतू चीज समझते हैं।

द्विवेदीजी भी 'सौंदर्य' को 'अतिरिक्‍त' मानते हैं किंतु उनके 'अतिरिक्‍त' का अर्थ वह है जो आनंदवर्धनकृत 'लावण्‍य' की परिभाषा में है। वह किसी वस्‍तु के प्रसिद्ध अवयवों में से कोई भी नहीं है, उनसे अतिरिक्‍त है और फिर भी उन अवयवों को छोड़कर नहीं रह सकता। सो, सौंदर्य रूप नहीं है, लेकिन रूप को छोड़कर रह भी नहीं सकता। इस शास्‍त्रीय परिभाषा से द्विवेदीजी जीवन के लिए जो निष्‍कर्ष निकालते हैं, वह द्रष्‍टव्‍य है। कहते हैं : 'जीवन को सुंदर ढंग से बिताने के लिए भी जीवन का एक रूप होना चाहिए। बहुत से लोग कुछ भी न करने को भलापन समझते हैं। यह गलत धारणा है। सुंदर जीवन क्रियाशील होता है; क्‍योंकि क्रियाशीलता ही जीवन का रूप है। क्रियाशीलता को छोड़कर जीवन का 'सौंदर्य' टिक नही सकता।' द्विवेदीजी के अनुसार इस भाव से चालित जन-समाज अंतत: 'राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों पर कब्‍जा करने के प्रयास' से कम पर संतुष्‍ट नहीं हो सकता क्‍योंकि ' समाज व्‍यवस्‍था को ज्‍यों का त्‍यों स्‍वीकार कर लेना एकदम असंभव हो गया है।'

किंतु उन संकीर्णतावादी क्रांतिकारियों से द्विवेदीजी सहमत नहीं हैं जो मनुष्‍य के भविष्‍य को सुखी बनाने के नाम पर आज उसके सौंदर्य-प्रेम को किसी न किसी बहाने कुचल देना चाहते हैं। अंतिम दिनों में लिखित 'परंपरा और आधुनिकता' शीर्षक लेख में वे कहते हैं : 'जो मनुष्‍य को उसकी सहज वासनाओं और अद्भुत कल्‍पनाओं के राज्‍य से वंचित करके भविष्‍य में उसे सुखी बनाने के सपने देखता है वह ठूँठ तर्कपरायण कठमुल्‍ला हो सकता है, आधुनिक बिल्‍कुल नहीं। वह मनुष्य को समूचे परिवेश से विच्छिन्न करके हाड़-मांस का यंत्र बनाना चाहता है। यह न तो संभव है, न वांछनीय।' (ग्रंथावली 9/363)

इसलिए द्विवेदीजी मनुष्‍य की 'समस्‍त रचयित्री आनंदिनी वृत्ति' का विकास आवश्‍यक समझते हैं, क्‍योंकि चित्रकला, मूर्तिकला, वास्‍तुकला, धर्मविधान और साहित्‍य के माध्‍यम से उसी वृत्ति को अभिव्‍यक्ति मिलती है।

यह आकस्मिक नहीं है कि अंतिम दिनों में वे 'सौंदर्यशास्‍त्र' पर 'लालित्‍य-मीमांसा' नाम से एक पूरी पुस्‍तक लिख रहे थे। अपने प्रिय कवि कालिदास पर 'कालिदास की लालित्‍य-योजना' नामक पुस्‍तक पूरी करके वे स्‍वयं लालित्‍यशास्‍त्र पर ही व्‍यवस्थित और सांगोपांग विचार करना चाहते थे। उनके जीवन की सुदीर्घ सौंदर्य-चिंता और सौंदर्य-साधना की यह स्‍वाभाविक परिणति थी। दुर्भाग्‍य से उस पुस्‍तक के केवल पाँच ही निबंध पूरे हो पाए, पर उनसे भी उनकी व्‍यापक और मौलिक सौंदर्य -चिंता का कुछ आभास मिल ही जाता है। उन्‍हें इस तथ्‍य का एहसास है कि 'भारतवर्ष में इस प्रकार के किसी अलग शास्‍त्र की कल्‍पना नहीं की गई है; परंतु काव्‍य, शिल्‍प, चित्र, मूर्ति, संगीत, नाटक आदि की आलोचना के प्रसंग में और विविध आगमों में 'चरम सुंदर तत्त्व' की महिमा बताने के बहाने इसकी चर्चा अवश्‍य होती रही है।' इसलिए अपनी इस छिन्‍न किंतु समृद्ध परंपरा के आधार पर ही उन्‍होंने लालित्‍य-चिंतन के भवन-निर्माण का प्रयास किया है।

इस प्रयास का पहला सूत्र है कि वे सौंदर्य को सौंदर्य न कहकर 'लालित्‍य' कहना चाहते हैं, क्‍योंकि 'प्राकृतिक सौंदर्य से भिन्‍न किंतु उसके समानांतर चलनेवाला मानवरचित सौंदर्य' (ग्रंथावली 7/34) उनकी दृष्टि में विशेष

महत्   वपूर्ण है। लालित्   य वह इसलिए है कि मानव द्वारा लालित है। सौंदर्य की इस मानववादी धारणा का स्   त्रोत द्विवेदीजी ने अपनी परंपरा से ही ढूँढ निकाला। वह स्   त्रोत है भरत मुनि का नाट्शास्   त्र। नाट्यशास्   त्र में नाटक की उत्पत्ति की जो कथा दी गई है उसके अनुसार देवता नाटक न कर सके और नाटक कर सकने में मनुष्   य को ही समर्थ समझा गया, क्   योंकि उसमें देवताओं से एक विशिष्   ट शक्ति है-अनुकरण की। यही नहीं, भरत मुनि ने अपने समय में प्रचलित रूपकों में से पूर्णांग सिर्फ नाटक और प्रकरण को ही माना जहाँ नायक मनुष्   य होता है। नायकपर विचार करते हुए प्रसंगवश नाट्शास्   त्र के अनुसार मनुष्   य ही धीरोदात्त हो सकते हैं, जबकि 'देवा धीरोद्धता एवं' क्   योंकि देवों में फलागम के लिए उतावली होती है और धीरोदात्त की भाँति धीरभाव से प्रत्   याशा में वे नहीं उलझते। इस प्रकार द्विवेदीजी 'कला-सृजन में मनुष्   य की महिमा का सबल विवेक' भरत मुनि से प्राप्   त करते हैं। सौंदर्य को मनुष्   य-लालित मानने का दूसरा स्   त्रोत है तांडव और लास्   य का अंतर। पुराणगाथा के अनुसार शिव का तांडव रस-भाव-विवर्जित 'नृत्त' हैं जबकि पार्वती का लास्   य रस-भाव-समन्वित नृत्   य है। द्विवेदीजी इससे यह संकेत ग्रहण करते हैं कि 'तांडव जहाँ मानव पूर्व तत्त्वों का स्   वत:स्   फूर्त विकास है, वहाँ लास्   य मानवीय प्रयासों का ललित रूप। (वही, 7/31) अंत में आगमों में वर्णित विश्   वव्   यापिनी सर्जनात्   मक शक्   ि 'ललिता' के प्रभामंडल से मंडित करते हुए वे मनुष्   य-निर्मित सौंदर्य तत्त्व को 'लालित्   य' की संज्ञा देते है। किंतु कुल मिलाकर समष्टिगत और व्   यष्टिगत दोनों ही स्   तरों पर द्विवेदीजी की सौंदर्यदृष्टिमूलत: मानव-कैंद्रित ही है। इसका अर्थ सिर्फ यही नहीं है कि सौंदर्य का स्   त्रष्   टा मनुष्य है, बल्कि यह भी कि सौंदर्य की सृष्टि करने के कारण ही मनुष्   य मनुष्   य है।

द्विवेदीजी की लालित्   य-मीमांसा का दूसरा सूत्र यह है कि यह 'बंधन के विरुद्ध विद्रोह' है और 'बंधनद्रोही व्   याकुलता को रूप देने का प्रयास' है। (7/38) नृत्   य के संदर्भ में इसी बात को 'जड़ के गुरुत्   वाकर्षण पर चैतन्   य की विजयेच्   छा' कहा गया है। (7/28) आकस्मिक नहीं है कि द्विवेदीजी ने अपने सभी उपन्   यासों में किसी-न-किसी बहाने नृत्   य का आयोजन किया है। नृत्   य भले ही बंधनों के विरुद्ध विद्रोह को व्   यक्   त करनेवाली सबसे जीवंत कला हो, किंतु अन्   य कलाएँ भी नृत्   य के इस धर्म का अनुसरण करती हैं, यह भी द्विवेदीजी ने यथास्   थान स्   पष्   ट कर दिया है। इस प्रकार द्विवेदीजी की दृष्टि में कला और सौंदर्य ने यथास्   थान स्   पष्   ट कर दिया है। इस प्रकार द्विवेदीजी की दृष्टि में कला और सौंदर्य की सृष्टि विलास-मात्र नहीं बल्कि बंधनों के विरुद्ध विद्रोह है जो, शास्   त्र समर्थित न होते हुए भी, उनकी क्रांतिकारी सौंदर्य-दृष्टि का परिचायक है।

द्विवेदीजी की लालित्   य-मीमांसा का तीसरा सूत्र यह है कि सौंदर्य एक सर्जना है - मनुष्   य की सिसृक्षा का परिणाम। उल्   लेखनीय है कि 'लालित्   य-मीमांसा' के प्राप्   त अंशों में सबसे अधिक विचार सिसृक्षा पर ही है, जिसका स्   पष्   ट अर्थ है कि वे मनुष्   य की सृजनशीलता पर सबसे अधिकबल देना चाहते थे। विवेचन की शब्   दावली अवश्   य पुरानी है और प्राय: शैव तथा शाक्   त दर्शनों की इच्   छाशक्   ि और क्रियाशक्ति का सहारा लिया गया है, किंतु अंतत: इस आध्   यात्मिक शब्   दावली के बीच से मनुष्   य की वह सर्जनात्   मक शक्ति ही प्रकाशित होती है जो सौंदर्य, कला और संस्   कृति के मूल में है। इसी सृजनशीलता के संदर्भ में उन्   होंने उन 'रूढ़ियों' की भूमिका पर भी विचार किया है जो कलाकार के लिए सब समय बाधक ही नहीं होतीं, बल्कि कभी-कभी साधक या सहायक भी हो जाती है।

अंत में द्विवेदीजी एक ऐसे 'समग्र भाव' के रूप सौंदर्यकी स्   थापना करते हैं जो धर्माचरण, नैतिकता आदि (जीवन की) सभी प्रकार की अभिव्   यक्तियों को छापकर, सबको अभिभूत करके, सबको अंतर्ग्रथित करके 'सामग्र् भाव ' का प्रकाश करता है। उन्   हीं के शब्   दों में : 'भाषा में, मिथक में, धर्म में, काव्   य में, मूर्ति में, चित्र में बहुधा अभिव्   यक्ति मानवीय इच्   छाशक्ति का अनुपम विलास ही वह सौंदर्य है जिसकी मीमांसा का संकल्   प लेकर हम चले हैं।' (7/34)

मीमांसा दुर्भाग् यवश अपूर्ण ही रह गई; पर संकल् प सार्थक है। 'जनता का अंत: स् पंदन' ही नहीं बल्कि अन् य रचनाओं के प्रकाश में 'लालित् य-मीमांसा' के सूत्रों को देखें तो संकेत स् पष् ट है : जीवन का समग्र विकास ही सौंदर्य है। यह सौंदर्य वस् तुत: एक सृजन व् यापार है। इस सृजन की क्षमता मनुष् य में अंतर्निहित है। वह इस सौंदर्य सृजन की क्षमता के कारण ही मनुष् य है। इस सृजन व् यापार का अर्थ है बंधनों से विद्रोह। इस प्रकार सौंदर्य विद्रोह है - मानव-मुक्ति का प्रयास है। (1982)

●●●●